भीष्म का राजधर्म

लेखक—
डा० श्याम लाल पाण्डेय,
एम० ए०, पी-एच० डी०

लखनऊ
कार्तिकी पूर्णिमा
सं० २०१२ विक्रमी

मूल्य ६)

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

द्वितीय अध्याय

राजा

तृतीय अध्याय

मंत्रिपरिषद्

चतुर्थ अध्याय

विधि

पञ्चम अध्याय

कोष

षष्ट अध्याय

पुर और जनपद

सप्तम अध्याय

गण और संघ-राज्य

अष्टम अध्याय

सेना और युद्ध

प्रथम अध्याय

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

भीष्म का संक्षिप्त परिचय——प्राचीन भारत में ऐसे अनेक महापुरुष हुए हैं जिन्होंने मनुष्य के विभिन्न धर्मों की व्याख्या करके उसके लिए इस लोक और परलोक दोनों में सुख और शान्ति के पथ-प्रदर्शन की व्यवस्था की है। इन महापुरुषों में भीष्म का भी ऊँचा स्थान है। वह ययाति-पुत्र राजा शान्तनु के पुत्र थे। उनकी माता का नाम गङ्गा देवी था। गङ्गा देवी की मृत्यु के उपरान्त अपने पिता शान्तनु की प्रसन्नता के लिए उन्होंने मल्लाह-पुत्री सत्यवती से उनका दूसरा विवाह कराया और स्वयं जीवनपर्यन्त अविवाहित रहने एवं अपने पिता के राज्य को ग्रहण न करने का व्रत लिया। उस समय भीष्म का नाम देवव्रत था परन्तु इन्होंने अपने पिता के राज्य को ग्रहण न करने और जीवनपर्यन्त अविवाहित रहने की भयंकर प्रतिज्ञा जिस समय की उसी समय से इनका नाम भीष्म हुआ। इन्होंने अपने इस व्रत का अक्षरशः पालन किया।

भीष्म महाभारत काल के अद्भुत योद्धा हुए हैं। महाभारत युद्ध के संचालन हेतु भीष्म ही कौरव सेना के सर्व प्रथम सेनापति बनाये गये थे। दस दिन निरन्तर घोर युद्ध करने के उपरान्त अर्जुन के बाणों से आहत होकर इन्होंने शरशय्या ग्रहण की और उसी शरशय्या पर उत्तरायण सूर्य की प्रतीक्षा में छः मास तक पड़े रहे। सूर्य के उत्तरायण होने पर उन्होंने अपना शरीर त्याग दिया।

भीष्म मनुष्य के विभिन्न धर्मों के ज्ञाता थे और राजधर्म के विशेष पण्डित थे। उनके विषय में व्यास मुनि ने लिखा है-गंगा पुत्र भीष्म समस्त धर्मों के तत्व के ज्ञाता हैं। उनसे किसी धर्म का रहस्य छिपा हुआ नहीं है। धर्म के तत्वों के विषय में जो सन्देह हैं उनका वह अवश्य छेदन कर देंगे।[1] भीष्म ने वृहस्पति जैसे देवर्षियों की सेवा करके उनको सन्तुष्ट किया था और उनसे राजनीति का अध्ययन किया था।[2] शुक्राचार्य तथा देव गुरु वृहस्पति जिन नीति-शास्त्रों के ज्ञाता थे उन समस्त धर्मों को व्याख्या सहित कुरु वंश श्रेष्ठ महाभाग भीष्म पितामह जानते थे।[3] व्रतशील महाबाहु भीष्म ने भृगुवंशोत्पन्न परशुराम, महर्षि च्यवन और महामुनि वसिष्ठ से साङ्गोपाङ्ग वेदों का अध्ययन किया

१——स ते धर्मरहस्येषु संशयान्मनसि स्थितान्।
छेत्ता भागीरथीपुत्रः सर्वज्ञः सर्वधर्मवित्॥ श्लोक ७ अ० ३७ शा० पर्व॥

२——वृहस्पतिपुरोगांस्तु देवर्षीनसकृत्प्रभुः।
तोषयित्वोपचारेण राजनीतिमधीतवान्॥ श्लोक ९ अ० ३७ शा० पर्व॥

३——उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च देवगुरुर्द्विजः।
यच्च धर्मं सवैयाख्यं प्राप्तवान्कुरुसत्तमः॥ श्लोक १० अ० ३७ शा० पर्व॥

था।[1] ब्रह्मा जी के ज्येष्ठ पुत्र अत्यन्त तेजस्वी अध्यात्मतत्व के ज्ञाता महर्षि सनत्कुमार से उन्होंने बहुत कुछ अध्ययन किया था।[2] पुरुष श्रेष्ठ भीष्म पितामह ने महामुनि मार्कण्डेय के मुख से सारा यति धर्म सीखा था। इन्द्र और परशुराम से अस्त्र-विद्या का अध्ययन किया था।[3] कृष्ण ने भीष्म के विषय में इस प्रकार युधिष्ठिर से कहा है—चारों विद्याओं, चारों यज्ञों, चारों आश्रमों एवं सम्पूर्ण राजधर्म के विषय में जो तुमको पूछना है वह भीष्म से शीघ्र पूछ लो।[4] जब कौरव वंश श्रेष्ठ भीष्म पितामह संसार से चल देंगे तो उनके साथ ही सारा ज्ञान भी लुप्त हो जाएगा।[5]

इस प्रकार भीष्म मनुष्य के अनेक धर्मों के ज्ञाता और राजशास्त्र के विशेष पण्डित माने गए हैं। राजशास्त्र सम्बन्धी उनके जो विचार थे उनका बोध कराने के लिए एक मात्र साधन महाभारत के शान्ति पर्व के अन्तर्गत वर्णित वह प्रसंग है जिनमें इस विषय पर पाण्डु-पुत्र राजा युधिष्ठिर और उनके मध्य सम्वाद हुआ है। इसलिए उनके राजनीति सम्बन्धी विचारों को जानने के लिए हमें इसी सामग्री का आश्रय लेना होगा। भीष्म द्वारा प्रतिपादित राजनीति के सिद्धान्तों की व्याख्या करने के लिए इस विषय के जानने की परम आवश्यकता है कि उनके मतानुसार राज्य की उत्पत्ति के कौन-कौन सिद्धान्त हैं। इसलिए इस प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यहाँ राज्य की उत्पत्ति के उन सिद्धान्तों का वर्णन दिया जाएगा जिनमें भीष्म की निष्ठा थी।

समाज अनुबन्धवाद—कुरुक्षेत्र के प्रसिद्ध रणस्थल में शरशय्या पर लेटे हुए भीष्म पितामह और पाण्डु-पुत्र राजा युधिष्ठिर में राजधर्म के विषय में जो सम्वाद हुआ है और जिसका वर्णन महाभारत के शान्ति पर्व में है राज्य की उत्पत्ति के विषय में समुचित प्रकाश डालता है। इन सम्वादों के अध्ययन करने के उपरान्त पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि राज्य की उत्पत्ति के विषय में शान्ति पर्व में तीन मुख्य सिद्धान्तों की ओर संकेत किया गया है। राज्य की उत्पत्ति के यह तीन सिद्धान्त समाज अनुबन्धवाद (Social Contract Theory), दैवी सिद्धान्त (Divine Theory) और राज्य के सावयव स्वरूप का सिद्धान्त (Organic Nature of the State) हैं। शान्ति

१—भार्गवाच्च्यवनाच्चापि वेदानङ्गोपबृंहितान्।
प्रतिपेदे महाबाहुर्वसिष्ठाच्चरितव्रतः॥ श्लोक ११ अ० ३७ शा० पर्व॥

२—पितामहसुतं ज्येष्ठं कुमारं दीप्ततेजसम्।
अध्यात्मगतितत्त्वज्ञमुपाशिक्षत यः पुरा॥ श्लोक १२ अ० ३७ शा० पर्व॥

३—मार्कण्डेयमुखात्कृत्स्नं यतिधर्ममवाप्तवान्।
रामादस्त्राणि शक्राच्च प्राप्तवान्पुरुषर्षभः॥ श्लोक १३ अ० ३७ शा० पर्व॥

४—चातुर्विद्यं चातुर्होत्रं चातुराश्रम्यमेव च।
राजधर्मांश्च निखिलान् पृच्छैनं पृथिवीपते॥ श्लोक २२ अ० ४६ शा० पर्व॥

५—तस्मिन्नस्तमिते भीष्मे कौरवाणां धुरन्धरे।
ज्ञानान्यस्तं गमिष्यन्ति तस्मात्त्वां चोदयाम्यहम्॥ श्लोक २३ अ० ४६ शा० पर्व॥

पर्व में इन तीनों सिद्धान्तों की ओर यत्र-तत्र संकेत किये गये हैं जिनके एकत्र करने एवं उनके विश्लेषण तथा वर्गीकरण करने के उपरान्त इन सिद्धान्तों के वास्तविक स्वरूप का बोध सरलता से हो जाता है। यहाँ सबसे पहले समाज अनुबन्धवाद (Social Contract Theory) का वर्णन जैसा कि शान्ति पर्व में दिया गया है किया जायेगा।

राष्ट्र का सर्वप्रथम कर्त्तव्य—महाभारत के शान्ति पर्व में ऐसा वर्णन है कि राजा युधिष्ठिर न भीष्म से प्रार्थना की कि वह उन्हें राजधर्म का उपदेश करें। भीष्म ने राजधर्म की व्याख्या करना आरम्भ किया। इसी प्रसंग में यह प्रश्न भी उठाया गया कि राष्ट्र का सर्व-प्रथम कर्त्तव्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भीष्म ने बतलाया कि राष्ट्र का सर्व प्रथम कर्त्तव्य राजा का अभिषेक करना है। राजा रहित राज्य दुर्बल रहता है। ऐसे राज्य पर दस्यु आक्रमण करते हैं।[1] राष्ट्र के द्वारा राजा का वरण किया जाना इन्द्र के वरण किये जाने के समान होता है। जिस प्रकार इन्द्र पूज्य है उसी प्रकार राजा भी कल्याणेच्छुक लोगों के लिए पूजनीय होता है—ऐसा वेद का मत है।[2] जब कोई बलवान पुरुष राज्य की स्थापना के निमित्त उपस्थित होता है तो अराजक पराक्रमहीन राष्ट्र को उसके समक्ष झुक जाना चाहिए। बस यही सुन्दर मंत्रणा है। क्योंकि अराजकता से अधिक पापपूर्ण अन्य दूसरी वस्तु नहीं है।[3] हे राजन्! जो गाय कठिनायी से दूध देती है उसको क्लेश उठाना ही पड़ता है। परन्तु जो गाय सिधायी से दूध दुह लेने देती है उसको वह क्लेश सहन नहीं करना पड़ता।[4] जो लकड़ी तपाये बिना ही सीधी हो जाती है उसको अग्नि का ताप अनुभव नहीं करना पड़ता।[5] हे वीर! इसी उपमा को समझ कर बलवान के समक्ष

१—राष्ट्रस्यैतत्कृत्यतमं राज्ञ एवाभिषेचनम्।
अनिन्द्रमबलं राष्ट्रं दस्यवोऽभिभवन्त्युत॥ श्लोक २ अ० ६७ शा० पर्व॥

२—इन्द्रमेव प्रवृणुते यद्राजानमिति श्रुतिः।
यथैवेन्द्रस्तथा राजा संपूज्यो भूतिमिच्छता॥ श्लोक ४ अ० ६७ शा० पर्व॥

३—अथ चेदभिवर्तेत राज्यार्थी बलवत्तरः।
अराजकाणि राष्ट्राणि हतवीर्याणि वा पुनः॥ श्लोक ६ अ० ६७ शा० पर्व॥
प्रत्युद्गम्याभिपूज्यः स्यादेतदत्र सुमंत्रितम्।
नहि पापात्परतरमस्ति किंचिदराजकात्॥ श्लोक ७ अ० ६७ शा० पर्व॥

४—भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा।
अथ या सुदुहा राजन्नैव तां वितुदन्त्यपि॥ श्लोक ६ अ० ६७ शा० पर्व॥

५—यदतप्तं प्रणमते नैतत्सन्तापमर्हति।
यत्स्वयं नमते दारु न तत्संनामयन्त्यपि॥ श्लोक १० अ० ६७ शा० पर्व॥

राष्ट्र को झुक जाना चाहिए। बलवान के सम्मुख झुकना इन्द्र के सम्मुख झुकने के समान होता है।[1] कल्याण चाहने वाले राष्ट्र को अपना राजा अवश्य बनाना चाहिए।[2]

इसी प्रकार के अनेक हेतुओं द्वारा महाभारत के शान्ति पर्व में अराजकता की निन्दा की गयी है। इस प्रसंग में भीष्म ने यह भी कहा है कि राज्य की उत्पत्ति के विषय में उन्होंने कुछ विशेष बात सुनी हैं और इन विशेष बातों का वर्णन उन्होंने राजा युधिष्ठिर के सम्मुख किया है। राजशास्त्र के विद्यार्थी के लिए यह वर्णन बड़े महत्त्व का विषय है। यह वर्णन महाभारत के शान्ति पर्व में उसी रूप में उपलब्ध है और जिस के आद्योपान्त अध्ययन कर लेने के उपरान्त राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी एक निश्चित सिद्धान्त पर पहुँच जाना सरल काम हो जाता है। इस वर्णन की समीक्षा करने पर इस विषय का बोध होता है कि मनुष्य ने तीन मुख्य युगों में प्रवेश किया है। पहला युग उसके इतिहास में वह काल था जब वह प्राकृत जीवन के युग में रहता था जिसे विद्वानों ने प्राकृत युग (State of Nature) के नाम से सम्बोधित किया है। दूसरा वह युग था जब वह प्राकृत युग के बन्धन से सामाजिक जीवन के युग (State of Society) में प्रवेश करता है। इसके उपरान्त तीसरा युग राजनीतिक युग (State of Political Society) आता है। यह वह युग है जिसमें मनुष्य राज्य का निर्माण कर उसी के अधीन रह कर जीवन व्यतीत करता है। यहां पर इन तीनों युगों का वर्णन शान्ति पर्व में दिए गए विचारों के आधार पर किया जाएगा।

प्राकृत जीवन का युग—भीष्म राजा युधिष्ठिर से कहते हैं कि उन्होंने एक ऐसे युग के विषय में सुना है जिसमें मनुष्य अपना जीवन सामाजिक अथवा राजनीतिक संघठन के अन्तर्गत रहकर व्यतीत नहीं करता था। वह उस काल में प्राकृत युग में रहता था। इस युग के विशेष लक्षणों की ओर उन्होंने इस प्रकार संकेत किया है—हमने सुना है कि पूर्वकाल में मनुष्यों का कोई स्वामी (राजा) न था। उस युग में सबल मनुष्य निर्बल मनुष्य को उसी प्रकार नष्ट करते रहते थे जैसे कि जल में बड़ी और बलवान मछलियाँ छोटी और निर्बल मछलियों को निरन्तर नष्ट करती रहती हैं।[3] इस प्रकार उस युग में मात्स्यन्याय (Logic of the Fish) ही एक मात्र नियम इन लोगों में प्रचलित था। इसका कारण भीष्म ने अप्रत्यक्ष रूप में उस प्रसंग में बतलाया है जब कि प्राकृत युग के मनुष्य एकत्र होकर अपने लिए सदाचरण सम्बन्धी कतिपय

१—एतयोपमया वीर सन्नमेत बलीयसे।
इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे॥ श्लोक ११ अ० ६७ शा० पर्व॥

२—तस्माद्राजैव कर्तव्यः सततं भूतिमिच्छता।
न धनार्थो न दारार्थस्तेषां येषामराजकम्॥ श्लोक १२ अ० ६७ शा० पर्व॥

३—अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान्॥ श्लोक १७ अ० ६७ शा० पर्व॥

नियमों का निर्माण करते हैं। यह नियम कठोर वाणी, दण्डपरायणता, पर-स्त्री और पर-धन अपहरण सम्बन्धी वृत्तियों के दमन हेतु निर्मित हुए थे।[१] इस प्रकरण से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राकृत युग (State of Nature) में मनुष्य की असुर वृत्तियां—काम, क्रोध, लोभ, मोहादि—स्वच्छन्दता पूर्वक मनुष्यों पर अपना आधिपत्य जमाए हुए थी और जिसके कारण उनका जीवन पापमय एवं घृणित तथा यातनामय बन गया था जिसका अधिक काल तक सहन करना मनुष्य के लिए असम्भव था।

इस प्रकार भीष्म मनुष्य के इतिहास में एक ऐसे युग की ओर संकेत करते हैं जिस युग में मनुष्य प्राकृत जीवन की स्थिति में था। इस युग में मनुष्य की असद् वृत्तियां जैसे काम, क्रोध, लोभ मोहादि उसकी सद्वृत्तियों पर अपना आधिपत्य जमाए हुए थीं और उस युग में केवल एक नियम ही लोगों में क्रियात्मक रूप में प्रचलित था। वह नियम मात्स्यन्याय (Logic of the Fish) था। इस युग में मनुष्य का जीवन घृणित, नारकीय, भ्रष्टाचार एवं यातनामय था। मनुष्य परस्पर भयभीत और सशंकित रहता था। उसका जीवन अनिश्चित और क्षणिक था।

शान्ति पर्व में जिस प्राकृत युग की ओर संकेत किया गया है वह युग प्रसिद्ध अंग्रेज तत्ववेत्ता हाब्स द्वारा प्रतिपादित प्राकृत युग (State of Nature) से बहुत अंश में समानता रखता है। हाब्स ने भी मनुष्य के इतिहास में एक ऐसे युग की कल्पना की है जिस में मनुष्य घोर यातनामय जीवन व्यतीत करता था। उसका जीवन अत्यन्त दैनीय एवं नितान्त एकान्त वास का जीवन था जिसमें वह पशुवत अपना जीवन व्यतीत करता था। मनुष्य स्वार्थान्ध होकर उचित अथवा अनुचित का विचार न करके अपने पड़ोसी की हत्या कर डालने में तनिक भी हिचकता न था। स्वार्थ ने मनुष्य-मनुष्य में बैर उत्पन्न कर दिया था। वह एक दूसरे से इतना भयभीत रहता था कि वह पारस्परिक सम्पर्क करना ही न चाहता था। इस दृष्टि से भीष्म और हाब्स के विचारों में समानता पायी जाती है। परन्तु इस सम्बन्ध में इतना अवश्य उल्लेखनीय है कि हाब्स प्राकृत युग के मनुष्य में केवल भय की वृत्ति की ही प्रधानता देते हैं और इसी से मुक्ति प्राप्त करने के निमित्त मनुष्य स्वार्थी बन जाता है। हाब्स के इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य का स्वार्थ ही उसके विकासका कारण माना गया है। भीष्म, इसके विरुद्ध, मनुष्य में अन्य वृत्तियों का भी प्राधान्य मानते हैं, उनके मतानुसार मनुष्य में लोभ, मोह, क्रोध, काम, मद और मात्सर्य यह छः प्रधान असुर वृत्तियां हैं जिन्हें षड्-वर्ग के नाम से सम्बोधित किया गया है। भीष्म का मत है कि मनुष्य के सांस्कृतिक एवं सभ्य जीवन का विकास इस षड्वर्ग की विजय की मात्रा पर निर्भर है। जितनी मात्रा में मनुष्य इन असुर वृत्तियों पर विजयी होता जाएगा उसी मात्रा में उसका जीवन सुसंस्कृत एवं सभ्य बनता जाएगा। मनुष्य के सभ्य एवं सुसंस्कृत जीवन का

१—वाक्शूरो दण्डपरुषो यश्च स्यात्पारजायिकः॥ श्लोक १८ अ० ६७ शा० पर्व॥
यः परस्वमथादद्यात्त्याज्या नस्तादृशा इति॥ श्लोक १९ अ० ६७ शा० पर्व॥

विकास-उसके स्वार्थी बनने में नहीं है वरन स्वार्थ-त्याग में है। इस प्रकार भीष्म और हाब्स के विचारों में बड़ा अन्तर है।

सामाजिक जीवन का युग--शान्ति पर्व में जिस प्राकृत युग का वर्णन किया गया है वह अत्यन्त दैनीय घृणित एवं यातनामय जीवन का युग है। इस युग के जीवन से निवृत्ति पाने के लिए उस युग का मनुष्य विह्वल था। उसके लिए यह जीवन असह्य था। इसलिए उस युग से निवृत्ति पाने एवं मात्स्यन्याय (Logic of the Fish) से मुक्त होने के लिए उसने प्रयत्न किया और जिसका परिणाम दूसरे युग का निर्माण हुआ। इस युग के निर्माण की ओर भीष्म संकेत करते हुए कहते हैं-हमने सुना है कि (प्राकृत युग के) मनुष्यों ने एकत्र होकर यह नियम बनाए कि हम लोगों में जो व्यक्ति कठोरभाषी, दण्डपरायण, परस्त्री अथवा परधन अपहरण करेगा वह हम लोगों के वृन्द से वहिष्कृत कर दिया जायगा।[1] इस नारकीय युग से निवृत्ति पाने के लिए प्राकृत युग के लोग एकत्र होते हैं और फिर वह एकत्र होकर एक संघठित समाज का निर्माण करने का प्रयास करते हैं। इस प्रयास में वह कतिपय ऐसे नियमों का भी निर्माण करते हैं जिनके अनुसार आचरण करने से उनका जीवन सुख एवं शान्तिमय बन जाएगा और वह अपने पूर्व के नारकीय जीवन से सभ्य एवं सुसंस्कृत जीवन में प्रवेश कर सकें गे। इस स्थिति में उन्होंने एकत्र होकर पारस्परिक सहयोग एवं सम्मति से विधि निर्माण किए जिनका उद्देश्य सदाचरण मात्र था और जिनका आश्रय जनता की स्वीकृति मात्र थी। इनके मूल में कोई सत्ता न थी। अतः यह नियम सदाचरण सम्बन्धी विधि (Moral laws) ही रहे। विधि (Positive law) का वास्तविक स्थान ग्रहण न कर सके।

इस प्रकार भीष्म समाज का निर्माण एक प्रकार के सामाजिक अनुबन्ध (Social Contract) के आधार पर करते हैं और जनता के समक्ष समाज का स्पष्ट स्वरूप रखते हैं। इस समाज के लिए सदाचरण सम्बन्धी कतिपय नियमों का निर्माण कर इस बात की आशा की गयी थी कि मनुष्य इन नियमों का पालन कर अपनी असुर वृत्तियों को विजय कर एक ऐसे जीवन का निर्माण करेगा जिसमें सुर वृत्तियों का आधिपत्य होगा और जिसके अनुसार आचरण करने से उसका जीवन पारस्परिक सद्भावना, सहयोग एवं सार्वजनिक कल्याण का जीवन होगा जिसमें सुख और शान्ति स्थायी होकर वास करेगी।

हाब्स को भी मनुष्य को उसके प्राकृत जीवन (State of Nature) के यातनामय जीवन से निवृत्ति की प्राप्ति हेतु सामाजिक अनुबन्ध (Social Contract) का आश्रय लेना पड़ा था ऐसा वर्णन उपलब्ध है। इस प्रकार मनुष्य ने अपने उस बरबरता एवं पाशुविक जीवन से छुटकारा पाने के लिए सामाजिक अनुबन्ध (Social

---

१---समेत्य तास्ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम्।
वाक्शूरो दण्डपरुषो यश्च स्यात्पारजायिकः॥ श्लोक १८ अ० ६७ शा० पर्व॥
यः परस्वमथादद्यात्त्याज्या नस्तादृशा इति॥ श्लोक १९ अ० ६७ शा० पर्व॥

Contract) किया था। परन्तु इस विषय में हाब्स उतने स्पष्ट नहीं हैं जितने कि भीष्म हैं। हाब्स इस विषय की स्पष्ट रूप से व्याख्या न कर सके कि मनुष्य ने प्राकृत जीवन (State of Nature) से समाज का निर्माण किस प्रकार किया और फिर समाज से राज्य का निर्माण किस प्रकार हुआ। उनके द्वारा प्रतिपादित राज्य और समाज के सम्बन्ध में उनके जो विचार हैं वह भ्रमात्मक एवं अस्पष्ट हैं। भीष्म यह स्पष्ट कहते हैं कि प्राकृत युग (State of Nature) के उपरान्त सामाजिक अनुबन्ध (Social Contract) द्वारा समाज का निर्माण हुआ। परन्तु समाज के नियमों के लागू करने के लिए राजसत्ता की आवश्यकता हुई। इस आवश्यकता की पूर्ति राज्य-निर्माण में हुई। इस प्रकार भीष्म इस विषय में हाब्स की अपेक्षा अधिक स्पष्ट एवं हेतुयुक्त (Logical) दिखलाई पड़ते हैं।

राज्य निर्माण का युग—सामाजिक जीवन से मनुष्य ने राजनीतिक जीवन में किस प्रकार प्रवेश किया है इस विषय का वर्णन शान्ति पर्व में स्पष्ट दिया गया है। इस विषय में भी जो विचार दिए गए हैं वह हेतुयुक्त एवं स्पष्ट हैं। उनमें हाब्स के तत्सम्बन्धी विचारों की भाँति अस्पष्ट एवं भ्रमात्मक होने का कोई स्थान नहीं हैं। भीष्म का कहना है कि मनुष्य ने अराजकता (Anarchy) के युग से सामाजिक जीवन में प्रवेश किया और अपने सामाजिक जीवन को स्थायी बनाने के लिए उसने जीवन के कतिपय नियमों का निर्माण किया। परन्तु इन नियमों का पालन न हो सका।[1] इसलिए उसने इस बात की आवश्यकता अनुभव की कि उसके समाज में कोई ऐसी सत्ता होनी चाहिए जो उसकी समाज में लोगों को सदाचरण सम्बन्धी उन नियमों के अनुसार आचरण करने के लिए विवश करे और यह सत्ता इतनी शक्तिसम्पन्न हो जो उन व्यक्तियों को जो कि इन नियमों को भंग करें समुचित दण्ड देने में समर्थ हो। इस कार्य के सम्पादन हेतु वह जगत-सृष्टा ब्रह्मा की शरण में गए और उनसे इस प्रकार प्रार्थना की—हे भगवन् हम लोग बिना स्वामी (राजा) के नष्ट हो रहे हैं हमें कोई स्वामी (राजा) बतलायिए (दिश)।[2] हम लोग एकत्र होकर उसकी पूजा करेंगे और वह हमारा पालन करे।[3] ब्रह्मा ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और उनके समक्ष मनु को प्रस्तुत किया। परन्तु मनु ने राजपद को स्वीकार करने में आपत्ति की।[4] मनु ने इस विषय में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए – राजा बनने पर पाप कर्म करना आवश्यक है। राजा को लोगों को दण्ड

१—तास्तथा समयं कृत्वा समये नावतस्थिरे ॥ श्लोक १९ अ० ६७ शा० पर्व ॥

२—सहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्ताः पितामहम् ।
अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश ॥ श्लोक २० अ० ६७ शा० पर्व ॥

३—यं पूजयेम सम्भूय यश्च नः प्रतिपालयत् ॥ श्लोक २१ अ० ६७ शा० पर्व ॥

४—ततो मनुं व्यादिदेश मनुर्नाभिननन्द ताः ॥ श्लोक २१ अ० ६७ शा० पर्व ॥

देना पड़ता है। इसलिए राजपद स्वीकार करना बड़ा दुस्तर है। विशेषकर मिथ्याचार में संलग्न मनुष्यों वाले राज्य में राजपद ग्रहण करना तो और भी कठिन है।[१]

मनु के इस प्रकार के हेतुयुक्त बचनों को सुनकर लोगों ने मनु से निवेदन किया--तुम डरो मत। लोगों को दण्ड देना पाप नहीं है। वह तो जो पाप करता है उसी का पाप होता है।[२] हम लोग पशु और स्वर्ण के लाभ का पचासवां भाग, धान्य का दसवां भाग राजकोष की वृद्धि के निमित्त देते रहेंगे। जब कोई सुन्दर कन्या विवाह के लिए उद्यत होगी तो उस कन्या को सबसे प्रथम आप की भेंट करेंगे।[३] जो मनुष्य हम में मुख्य हैं या शस्त्र और वाहन से सुसज्जित हैं वह, इन्द्र के पीछे देवों की भाँति, तुम्हारा अनुसरण करेंगे।[४] इस प्रकार तुम बलवान होकर महाप्रतापी और दुराधर्ष हो जाओगे। जिस प्रकार कुबेर देवों की रक्षा करते हैं उसी प्रकार तुम भी हमको सुखपूर्वक धारण करते रहोगे।[५] राजा से सुरक्षित होकर प्रजा जिस धर्म का आचरण करेगी उस धर्म का चतुर्थांश तुमको मिला करेगा।[६] हे राजन्, तुम उस महान धर्म से सुख प्राप्त कर बलशाली बन जाओ और देवों की इन्द्र की भाँति आपही हमारी रक्षा में तत्पर हो जायें।[७] सूर्य की भाँति चमकते हुए आप विजय के लिए चल पड़ें और इस प्रकार शत्रुओं के अभिमान को चूर-चूर कर दें। तुम्हारी सर्वदा जय होगी।[८]

इतना कहने के उपरान्त मनु ने राजपद स्वीकार कर लिया। इस प्रकार राजा को वरण कर उन लोगों ने राज्य का निर्माण किया। राज्य निर्माण सम्बन्धी इस व्यवस्था में एक विशेष बात यह है कि राज्य का निर्माण सामाजिक जीवन के संघठन

१---बिभेमि कर्मणः पापाद्राज्यं हि भृशदुस्तरम्।
विशेषतो मनुष्येषु मिथ्यावृत्तेषु नित्यदा॥ श्लोक २२ अ० ६७ शा० पर्व॥

२---तमब्रुवनप्रजा मा भैः कर्तृनेनो गमिष्यति॥ श्लोक २३ अ० ६७ शा० पर्व॥

३---पशूनामधिपंचाशद्धिरण्यस्य तथैव च॥ श्लोक २३ अ० ६७ शा० पर्व॥
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोषवर्धनम्।
कन्यां शुल्के चारुरूपां विवाहेषूद्यतासु च॥ श्लोक २४ अ० ६७ शा० पर्व॥

४---मुखेन शस्त्रपत्रेण ये मनुष्याः प्रधानतः।
भवन्तं तेऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिव देवताः॥ श्लोक २५ अ० ६७ शा० पर्व॥

५---स त्वं जातबलो राजा दुष्प्रधर्षः प्रतापवान्।
सुखे धास्यसि नः सर्वान्कुबेर इव नैर्ऋतान्॥ श्लोक २६ अ० ६७ शा० पर्व॥

६---यं च धर्मं चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य त्वत्संस्थं वै भविष्यति॥ श्लोक २७ अ० ६७ शा० पर्व॥

७---तेन धर्मेण महता सुखं लब्धेन भावितः।
पाह्यस्मान्सर्वतो राजन्देवानिव शतक्रतुः॥ श्लोक २८ अ० ६७ शा० पर्व॥

८---विजयाय हि निर्याहि प्रतपन् रश्मिवानिव।
मानं विधम शत्रूणां जयोऽस्तु तव सर्वदा॥ श्लोक २९ अ० ६७ शा० पर्व॥

को स्थायी एवं अक्षुण्य रखने मात्र के लिए हुआ था। इसलिए जनता ने राजा को केवल उतने ही अधिकार प्रदान किये थे जितने कि राजा को इस कार्य के सम्पादन करने के लिए आवश्यक समझे गए थ। वास्तव में इस विधि से जिस राजा का निर्माण किया गया है वह निरंकुश राजा नहीं था। उसके अधिकार सीमित थे। यदि वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग करता हुआ पाया जाता तो उस राजा को उसके पद से च्युत करने की क्रिया वैध समझी जायगी।[1]

इस विषय में भीष्म हाब्स से भिन्न मत रखते हैं। हाब्स का मत है कि मनुष्य ने आत्मरक्षा के लिए अपने समस्त अधिकार उस व्यक्ति को प्रदान कर दिये जिसको उन्होंने अपना स्वामी (राजा) स्वीकार किया था। उनके सिद्धान्त के अनुसार यह अधिकार किसी प्रकार भी वापस नहीं लिए जा सकते। हाब्स के मतानुसार मनुष्य दो परिस्थितियों में ही रह सकता है। चाहे वह अराजकता एवं प्राकृत युग में वास करे अथवा संघटित राज्य के अन्तर्गत। जिस समय वैयक्तिक अधिकार मनुष्य के पास रहते हैं मनुष्यों में स्वार्थ की प्रतियोगिता के कारण अराजकता का युग उपस्थित हो जाता है परन्तु जब वह समस्त अधिकार उनसे अलग होकर किसी एक विशेष व्यक्ति में निहित हो जाते हैं तो ऐसी अवस्था में उसके जीवन का वह युग सुव्यवस्थित राज्य में परिणत हो जाता है। इस प्रकार हाब्स निरंकुश राजसत्ता (Absolutism) के पोषक हैं। उनके मत से राजा के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा करना किसी अवस्था में भी न्याययुक्त एवं वैध न होगा। परन्तु भीष्म इस मत को मान्य नहीं समझते।

इस प्रकार शान्ति पर्व में राज्य की उत्पत्ति के विषय में समाज अनुबन्धवाद (Social Contract Theory) का आश्रय लिया गया है और जो तत्सम्बन्धी पाश्चात्य मत से भिन्न है।

भीष्म के समाज अनुबन्धवाद का दूसरा स्वरूप—भीष्म ने राज्य की उत्पत्ति के विषय में समाज अनुबन्धवाद (Social Contract Theory) के दूसरे स्वरूप का भी वर्णन किया है। वह प्रसंगवश यह वर्णन उस अवसर पर करते हैं जब राजा युधिष्ठिर भीष्म से राजा की उत्पत्ति के विषय में इस प्रकार से प्रश्न करते हैं—राजा और अन्य मनुष्यों (प्रजा) के एक से हाथ, भुजा और ग्रीवा होती हैं और उनकी बुद्धि तथा इन्द्रिय भी समान ही होती हैं। इनको सुख-दुख का अनुभव भी समान रूप से ही होता है। पीठ, मुख तथा उदर भी इनके तुल्य ही होते हैं। श्वासोश्वास की क्रियाएँ भी समान हैं और प्राण, शरीर आदि भी एक से दिखलायी पड़ते हैं। राजा और साधारण मनुष्यों के जन्म और मरण में भी किसी प्रकार का भेद दिखलायी नहीं पड़ता। इस प्रकार समस्त मनुष्यों से राजा के गुण, कर्म और स्वभाव मिलते हैं। फिर राजा अकेला बड़े-बड़े शूरवीरों का अधिपति किस

१—षडेतान्पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे।
 ·········अरक्षितारं राजानं·········॥ श्लोक ४४–४५ अ० ५७ शा० पर्व ॥

प्रकार बन जाता है।[1] यह पृथ्वी अनेक आर्य शूर-वीरों से भरी पड़ी है। फिर राजा ही अकेला किस प्रकार इसकी रक्षा करने में समर्थ होता है और वही क्यों प्रजा के आनन्द की कामना करता है ?[2] इस अकेले राजा की प्रसन्नता को देखकर सारी प्रजा क्यों प्रसन्न रहती है ? राजा के चिन्तित होने पर सारे लोग व्याकुल हो उठते हैं। ऐसा क्यों है ?[3] हे भरतर्षभ ! मैं इस विषय का तथ्य जानना चाहता हूँ। हे वदताम्वर ! आप इस विषय का जहाँ तक हो सके ठीक-ठीक वर्णन कीजिए।[4]

राजा युधिष्ठिर के इन सन्देहों के समाधान हेतु भीष्म ने जो उत्तर दिया है वह सामग्री राजशास्त्र के इतिहास में बड़े मूल्य की सामग्री समझी जायगी। इन प्रश्नों के उत्तरों के देने में भीष्म ने राज्य की उत्पत्ति के विषय में जो प्रकाश डाला है वह इस सिद्धान्त की स्थापना करता है कि राज्य की उत्पत्ति सामाजिक अनुबन्ध के आधार (Contractual basis) पर हुई है।

युधिष्ठिर के द्वारा राजा के निर्माण के विषय में जो प्रश्न किये गये हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है उनका समाधान करते हुए भीष्म राज्य की उत्पत्ति के विषय में कहते हैं—तुम सावधान हो जाओ। मैं इस प्रश्न का पूर्णरूप से उत्तर देता हूँ कि किस प्रकार सत्य युग से यह राज्य व्यवस्था की परिपाटी चली है।[5] हे राजन् ! सत्य युग में राज्य, राजा, दण्ड या दण्ड देने वाला कुछ भी नहीं था।[6] समस्त प्रजा धर्म के अनुसार चलती थी और उसी से परस्पर रक्षा कर लेती थी। हे भारत ! धर्म को लक्ष्य में रख कर लोग एक-दूसरे की रक्षा कर रहे थे। दुःख की

१—तुल्यपाणिभुजग्रीवस्तुल्यबुद्धीन्द्रियात्मकः ।
तुल्यदुःखसुखात्मा च तुल्यपृष्ठमुखोदरः ॥ श्लोक ६ अ० ५६ शा० पर्व ॥
तुल्यशुक्रास्थिमज्जा च तुल्यमांसासृगेव च ।
निःश्वासोच्छ्वासतुल्यश्च तुल्यप्राणशरीरवान् ॥ श्लोक ७ अ० ५६ शा० पर्व ॥
समानजन्ममरणः समः सर्वगुणैर्नृणाम् ।
विशिष्टबुद्धीन् शूरांश्च कथमेकोऽधितिष्ठति ॥ श्लोक ८ अ० ५६ शा० पर्व ॥

२—कथमेको महीं कृत्स्नां शूरवीरार्यसंकुलाम् ।
रक्षत्यपि च लोकस्य प्रसादमभिवाँछति ॥ श्लोक ९ अ० ५६ शा० पर्व ॥

३—एकस्य तु प्रसादेन कृत्स्नो लोकः प्रसीदति ।
व्याकुले चाकुलः सर्वो भवतीति विनिश्चयः ॥ श्लोक १० अ० ५६ शा० पर्व ॥

४—एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन भरतर्षभ ।
कृत्स्नं तन्मे यथातत्त्व प्रब्रूहि वदताम्वर ॥ श्लोक ११ अ० ५६ शा० पर्व ॥

५—नियतस्त्वं नरव्याघ्र शृणु सर्वमशेषतः ।
यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत् ॥ श्लोक १३ अ० ५६ शा० पर्व ॥

६—न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥ श्लोक १४ अ० ५६ शा० पर्व ॥

बात यह है कि उन्हें इसी बीच में मोह ने आ घेरा। और वह मोह के वशीभूत हो गये।[1] जब प्रजा में मोह छा गया तो ज्ञान के लोप से उनका धर्म भी नष्ट होने लगा।[2] जब उनका ज्ञान ही नष्ट हो गया तो लोग अज्ञान के वश में हो गये। हे भरतसत्तम ! इस प्रकार आगे चल कर वह लोभ के जाल में फँस गये।[3] हे प्रभो ! जब लोगों का विचार-विमर्श लुप्त हो गया तो उनको काम नाम के दोष ने आ घेरा।[4] जब लोग काम के वश में हो गये तो उनके मन में राग की प्रवृत्ति हुई। हे युधिष्ठिर ! इसी राग के वश में होकर उनको कार्य-अकार्य का ज्ञान न रहा।[5] हे राजेन्द्र ! अब तो जिसका सम्भोग नहीं करना चाहिये उसका सम्भोग करने लगे। भक्ष्याभक्ष्य की कोई परिपाटी न रही तथा दोषादोष का भेद न रहा।[6] जब प्रजा अधर्म में फँस कर नष्ट होने लगी तो वेद भी लुप्त हो चला। हे राजन् ! जब वेद नष्ट होता है तब धर्म भी नष्ट हो ही जाता है।[7] जब धर्म और वेद का नाश हो गया तो देवगण भयभीत हो उठे। नरशारदूल ! देव गण भयातुर होकर ब्रह्मा की शरण में गये।[8] उन्होंने लोकपितामह ब्रह्मा की स्तुति कर के उनको प्रसन्न किया। वह समस्त देव गण दुःख से आहत होकर हाथ जोड़ कर ब्रह्मा जी से कहने लगे[9]--हे भगवन् ! नरलोक में स्थित सारा वेद, लोभमोहादि वृत्तियों के जाग्रत होने से नष्ट हो गया है। ऐसा

१--पाल्यमानास्तथाऽन्योऽन्यं नरा धर्मेण भारत।
खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान्मोह आविशत् ॥ श्लोक १५ अ० ५९ शा० पर्व ॥

२--ते मोहवशमापन्ना मनुजा मनुजर्षभ।
प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत् ॥ श्लोक १६ अ० ५९ शा० पर्व ॥

३--नष्टायां प्रतिपत्तौ च मोहवश्या नरास्तदा।
लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरतसत्तम ॥ श्लोक १७ अ० ५९ शा० पर्व ॥

४--अप्राप्तस्याभिमर्शं तु कुर्वन्तो मनुजास्ततः।
कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो ॥ श्लोक १८ अ० ५९ शा० पर्व ॥

५--तांस्तु कामवशं प्राप्तान् नामाभिसंस्पृशत्।
रक्ताश्च नाभ्यजानन्त कार्याकार्यं युधिष्ठिर ॥ श्लोक १९ अ० ५९ शा० पर्व ॥

६--अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्यं तथैव च।
भक्ष्याभक्ष्यं च राजेन्द्र दोषादोषं च नात्यजन् ॥ श्लोक २० अ० ५९ शा० पर्व।

७--विप्लुते नरलोके वै ब्रह्म चैव ननाश ह।
नाशाच्च ब्रह्मणो राजन्धर्मो नाशमथागमत् ॥ श्लोक २१ अ० ५९ शा० पर्व ॥

८--नष्टे ब्रह्मणि धर्मे च देवांस्त्रासः समाविशत्।
ते त्रस्ता नरशार्दूल ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥ श्लोक २२ अ० ५९ शा० पर्व ॥

९--प्रसाद्य भगवन्तं ते देवं लोकपितामहम्।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे दुःखवेगसमाहताः ॥ श्लोक २३ अ० ५९ शा० पर्व ॥

देख कर हमारे चित्त में महान भय का संचार हो रहा है।[१] हे ब्रह्मन्! जब वेद ही नष्ट हो जाएगा तब सारा धर्म भी नष्ट होकर ही रहेगा। हे त्रिभुवनेश्वर! इस प्रकार तो हम लोग भी मनुष्यों के समान हो जाएँगे। मनुष्य तो यज्ञादि करके हमारी सेवा करते हैं और हम उनके लोक में जो हमसे नीचे हैं वर्षा करते हैं। जब वह याज्ञिक क्रियाओं का त्याग कर देंगे तो हम भी निर्बल हो जायेंगे। इसमें सन्देह नहीं है।[२] हे पितामह! इस विषय में जिस प्रकार हमारा कल्याण हो आप वैसा ही विचारें। आपके प्रभाव से हमारा जो यह स्वभाव बना था या हम को जो ऐश्वर्य प्राप्त हुआ था वह स्वयं नष्ट होने जा रहा है।[३]

जब देवों ने इस प्रकार स्तुति की तो भगवान ब्रह्मा उन समस्त देवों से बोले। हे देवो! तुम डरो मत में तुम्हारे कल्याण का चिन्तन करूंगा।[४] तब ब्रह्मा जी ने एक लाख अध्याय के एक बृहद् ग्रंथ की रचना अपनी बुद्धि के अनुसार की।[५] हे राजन्! इस शुभ नीतिशास्त्र की रचना करके भगवान ब्रह्मा जी ने प्रसन्न होकर इन्द्र आदि देवों से यह बचन कहे—हे देवो! जगत के उपकार और त्रिवर्ग की स्थापना के निमित्त ज्ञान का सार निकाल कर मैंने यह युक्ति प्रकाशित की है। यह दण्ड के साथ लोगों का रक्षण करने वाली होगी।[६] यह निग्रह और अनुग्रह दोनों के साथ लोकों का बड़ा उपकार करेगी।[७] दण्ड से संसार चलाया जाता है अथवा इसमें दण्ड का विधान किया गया है इसलिए यह शास्त्र दण्डनीति कहलाएगा। इस नीति का प्रभाव तीनों लोकों में विद्यमान है।[८] इसके अनन्तर सर्व प्रथम अनेक रूपधारी विशालाक्ष शिव स्थाणु

१—भगवन्नरलोकस्थं ग्रस्तं ब्रह्म सनातनम्।
लोभमोहादिभिर्भावैस्ततो नो भयमाविशत्॥ श्लोक २४ अ० ५६ शा० पर्व॥

२—ब्रह्मणश्च प्रणाशेन धर्मो व्यनशदीश्वर।
ततःस्म समतां याता मर्त्यैस्त्रिभुवनेश्वर॥ श्लोक २५ अ० ५६ शा० पर्व॥

३—अत्र निःश्रेयसं यन्नस्तद्ध्यायस्व पितामह।
त्वत्प्रभावसमुत्थोऽसौ स्वभावो नो विनश्यति॥ श्लोक २७ अ० ५६ शा० पर्व॥

४—तानुवाच सुरान्सर्वान्स्वयम्भूर्भगवान् स्तुतः।
श्रेयोऽहंचिन्तयिष्यामि व्येतु वो भीः सुरर्षभः॥ श्लोक २८ अ० ५६ शा० पर्व॥

५—ततोऽध्याय सहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम्।
यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः॥ श्लोक २६ अ० ५६ शा० पर्व॥

६—उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च।
नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता॥ श्लोक ७६ अ० ५६ शा० पर्व॥

७—दण्डेन सहिता ह्येषा लोकरक्षणकारिका।
निग्रहानुग्रहरता लोकाननुचरिष्यति॥ श्लोक ७७ अ० ५६ शा० पर्व॥

८—दण्डेन नीयते चेदं दण्डं नयति वा पुनः।
दण्डनीतिरिति ख्याता त्रीन्लोकानभिवर्तते॥ श्लोक ७८ अ० ५६ शा० पर्व॥

उमापति भगवान शंकर ने इस नीतिशास्त्र को ग्रहण किया ।[१] भगवान शंकर ने जब लोगों की अल्पायु देखा तो ब्रह्मा जी द्वारा प्रणीत इस महाशास्त्र का उन्होंने संक्षेप कर दिया जिसका नाम वैशालाक्ष हुआ ।[२] इस दस हजार अध्याय वाले ग्रंथ को महान तपस्वी ब्राह्मण रक्षक इन्द्र ने प्राप्त किया । भगवान् इन्द्र ने भी इस शास्त्र का संक्षेप कर उसके पाँच हजार अध्याय बना दिए जिसका नाम बाहुदन्तक हुआ ।[३] इसके अनन्तर शक्तिशाली बृहस्पति ने उसका संक्षेप कर उसके तीन सहस्त्र अध्याय रखे जो बार्हस्पत्या के नाम से प्रसिद्ध है ।[४] फिर अत्यन्त बुद्धिमान योगाचार्य महायशस्वी शुक्राचार्य ने इसका संक्षेप कर एक सहस्र अध्याय बनाए ।[५] हे महाभाग ! मनुष्यों के ह्रास और उनकी अल्पायु को जानकर लोगों के अनुरोध से ऋषि महर्षियों ने समय-समय पर इसको और भी संक्षेप किया है ।[६]

इसके उपरान्त देवगण प्रजा के स्वामी भगवान विष्णु के पास पहुँचे और उनसे निवेदन किया कि जो मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ हो आप हमारे लिए उसको बतलाएँ । हे राजन् ! तब प्रभु भगवान नारायण ने विचार कर रजोगुण रहित एक तेजस्वी मानस पुत्र रचा ।[७] उस महानुभाव ने रजोगुण रहित होने के कारण पृथ्वी का स्वामी बनना स्वीकार नहीं किया । हे पाण्डव ! उसकी बुद्धि तो प्रारम्भ से ही सन्यास की ओर प्रवृत्त हुई ।[८] उस महाभाग विरजा के एक कीर्तिमान पुत्र हुआ । परन्तु वह भी

१—ततस्तां भगवान्नीतिं पूर्वं जग्राह शंकरः ।
बहुरूपो विशालाक्षः शिवः स्थाणुरुमापतिः ।। श्लोक ८० अ० ५९ शा० पर्व ।।

२—प्रजानामायुषो ह्रासं विज्ञाय भगवान् शिवः ।
संचिक्षेप ततः शास्त्रं महास्त्रं ब्रह्मणा कृतम् ।। श्लोक ८१ अ० ५९ शा० पर्व ।।

३—भगवानपि तच्छास्त्रं संचिक्षेप पुरन्दरः ।
सहस्रैः पंचभिस्तात यदुक्तं बाहुदन्तकम् ।। श्लोक ८३ अ० ५९ शा० पर्व ।।

४—अध्यायानां सहस्रैस्तु त्रिभिरेव वृहस्पतिः ।
संचिक्षेपेश्वरो बुद्ध्या बार्हस्पत्यं तदुच्यते ।। श्लोक ८४ अ० ५९ शा० पर्व ।।

५—अध्यायानां सहस्त्रेण काव्यः संक्षेपमब्रवीत् ।
तच्छास्त्रममितप्रज्ञो योगाचार्यो महायशाः ।। श्लोक ८५ अ० ५९ शा० पर्व ।।

६—एवं लोकानुरोधेन शास्त्रमतन्महर्षिभिः ।
संक्षिप्तमायुर्विज्ञाय मर्त्यानां ह्रासमेव च ।। श्लोक ८६ अ० ५९ शा० पर्व ।।

७—अथ देवाः समागम्य विष्णुमूचुः प्रजापतिम् ।
एको योऽर्हति मर्त्येभ्यः श्रेष्ठ्यं वै तं समादिश ।।
ततः संचिंत्य भगवान्देवो नारायणः प्रभुः ।
तेजसं वै विरजसं सोऽसृजन्मानसं सुतम् ।। श्लोक ८७, ८८ अ० ५० शा० पर्व ।।

८—विरजास्तु महाभागः प्रभुत्वं भुवि नैच्छत ।
न्यासायैवा भवद्बुद्धिः प्रणीता तस्य पाण्डव ।। श्लोक ८९ अ० ५९ शा० पर्व ।।

मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसके पुत्र का नाम कर्दम था। वह महान तप करने में प्रवृत्त हुआ।[१] प्रजापालक राजा कर्दम के अनङ्ग नाम का पुत्र हुआ। वह भी बड़ा नीतिमान था। उसने उस विशाल राज्य को प्राप्त किया। यह राजा होकर इन्द्रिय भोगों में परायण हो गया।[२] हे राजन! मृत्यु की सुनीथा नाम की मानसी कन्या थी जो तीनों लोकों में विख्यात हैं। इस अतिबल की वह भार्या बनी और उसने राजा बेन को उत्पन्न किया।[३] यह बेन प्रजा में अधर्म की वृद्धि करता था और रागद्वेष में फँसा रहता था। इसलिए ब्रह्मवादी ऋषियों ने मन्त्रपूत कुशाग्रों से उसका वध कर दिया। महर्षियों ने उसकी दाहिनी भुजा का मन्थन किया और उससे इन्द्र के सदृश सुन्दर पुरुष उत्पन्न हुआ।[४] इसने कवच पहिन रखा था और वह खड्ग बाँधे हुए था। धनुषबाण से वह सुसज्जित था। वह वेदवेदाङ्ग और धनुर्वेद में भी पारङ्गत था। हे राजन! इस नरोत्तम को सम्पूर्ण दण्डनीति भली प्रकार ज्ञात थी।[५] बेनपुत्र हाथ जोड़कर उन महर्षियों से कहने लगा कि धर्म और अर्थ के देखने में तत्पर मुझ में सूक्ष्म बुद्धि विकसित हो रही है। हे मुनियो! इस बुद्धि से मुझ को क्या करना चाहिए? आप इसका तत्व बतलायिए।[६] आप जिस गम्भीर अर्थ के साथ मुझे मेरा कर्तव्य बतलाएँगे मैं उसका पालन करूँगा। इसमें किसी प्रकार के संकोच करने की आवश्यकता नहीं है।[७]

१—कीर्तिमांस्तस्य पुत्रो भूत्सोऽपि पंचातिगोऽभवत्।
कर्दमस्तस्य तु सुतः सोऽप्यतप्यन्महत्तपः॥ श्लोक ९० अ० ५९ शा० पर्व॥

२—अनङ्गपुत्रो ऽतिबलो नीतिमानभिगम्य वै।
प्रतिपेदे महाराज्यमथेन्द्रियवशो ऽभवत्॥ श्लोक ९२ अ० ५९ शा० पर्व॥

३—मृत्योस्तु दुहिता राजन्सुनीथा नाम मानसी।
प्रख्याता त्रिषु लोकेषु याऽसौ वेनमजीजनत्॥ श्लोक ९३ अ० ५९ शा० पर्व॥

४—तं प्रजासु विधर्माणं रागद्वेषवशानुगम्।
मंत्रभूतैः कुशैर्जघ्नुर्ऋषयो ब्रह्मवादिनः॥
भूयोऽस्य दक्षिणं पाणिं ममन्थुस्ते महर्षयः।
ततः पुरुष उत्पन्नो रूपेणेन्द्र इवापरः॥ श्लोक ९४, ९८ अ० ५९ शा० पर्व॥

५—कवची बद्धनिस्त्रिंशः सशरः सशरासनः।
वेदवेदांगविच्चैव धनुर्वेदे च पारगः॥ श्लोक ९९ अ० ५९ शा० पर्व॥
तं दण्डनीतिः सकलाश्रिता राजन्नरोत्तमम्॥ श्लोक १०० अ० ५९ शा० पर्व॥

६—सुसूक्ष्मा मे समुत्पन्ना बुद्धिर्धर्मार्थदर्शिनी।
अनया किं मया कार्यं तन्मे तत्त्वेन शंसत॥ श्लोक १०१ अ० ५९ शा० पर्व॥

७—यन्मां भवन्तो वक्ष्यन्ति कार्यमर्थसमन्वितम्।
तदहं वै करिष्यामि नात्र कार्या विचारणा॥ श्लोक १०२ अ० ५९ शा० पर्व॥

उस बेनपुत्र से देव और महर्षियों ने कहा कि जिस कर्म के करने में धर्म की स्थिति हो उस कर्म को तुम निःशंक होकर करो।[1] अब तुम प्रिय-अप्रिय का भेद छोड़कर समस्त प्राणियों में समान व्यवहार करो। काम क्रोध, लोभ और अहंकार का भी दूर से ही त्याग कर दो। जो मनुष्य संसार में धर्म से विचलित होएँ उनको तुम धर्म की ओर दृष्टि रखकर अपने बाहुबल से दण्डित करो।[2] हे परन्तप ! तुम मन, वाणी और कर्म से प्रतिज्ञा करो कि तुम जगत को ब्रह्म मान कर उसकी सर्वदा रक्षा करते रहोगे तथा दण्डनीति के अनुकूल जो नित्य धर्म है उसका सर्वदा निःशंक होकर पालन करोगे और कभी उच्छृङ्खल न होगे।[3] हे विभो परन्तप ! तुम यह भी प्रतिज्ञा करो कि तुम ब्राह्मणों को अदण्ड्य रखोगे। जगत में यदि वर्णसंकर होने लगेगा तो तुम उसको रोकोगे।[4] इतना सुनकर पृथु ने देवों और ऋषियों से कहा कि ब्राह्मण मेरे बड़े पूज्य होंगे। इन पुरुष श्रेष्ठों को सदैव नमस्कार करता रहूँगा।[5] बेन-पुत्र पृथु की इस प्रकार स्वीकृति पाकर उन देवों एवं महर्षियों ने ब्रह्मज्ञानी, विद्यानिधि शुक्राचार्य को उसका पुरोहित नियत किया।[6] उस के मंत्री बालखिल्य ऋषि हुए और सारस्वत उसके गण बनाए गए। भगवान् महर्षि गर्ग उसके ज्योतिषी बने। श्रुति ने ऐसा प्रतिपादन किया है कि यह विष्णु से आठवाँ पुरुष था।[7] इस राजा पृथु का अभिषेक भगवान विष्णु, इन्द्रादि समस्त देव, ऋषि तथा प्रजापालक ब्राह्मणों ने सम्पादित किया।[8] इस महात्मा

१—तमूचुस्तत्र देवास्ते ते चैव परमर्षयः ।
नियतो यत्र धर्मो वै तमशंकः समाचर ॥ श्लोक १०३ अ० ५९ शा० पर्व ॥

२—प्रियाप्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु ।
कामं क्रोधं च लोभं च मानं चोत्सृज्य दूरतः ॥
यश्च धर्मात्प्रविचलेल्लोके कश्चन मानवः ।
निग्राह्यस्ते स्वबाहुभ्यां शश्वद्धर्ममवेक्षता ॥ श्लोक १०४–१०५ अ० ५९ शा० पर्व ॥

३—प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा ।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत् ॥
यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः ।
तमशंकः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥ श्लोक १०६-१०७ अ० ५९ शा० पर्व ॥

४—अदण्ड्या मे द्विजाश्चेति प्रतिजानीहि हे विभो ।
लोकं च संकरात्कृत्स्नं त्रातास्मीति परंतप ॥ श्लोक १०८ अ० ५९ शा० पर्व ॥

५—ब्राह्मणा मे महाभागा नमस्याः पुरुषर्षभाः ॥ श्लोक १०९ अ० ५९ शा० पर्व ॥

६—पुरोधाश्चाभवत्तस्य शुक्रो ब्रह्ममयो निधिः ॥ श्लोक ११० अ० ५९ शा० पर्व ॥

७—मंत्रिणो वालखिल्याश्च सारस्वत्यो गणस्तथा ।
महर्षिर्भगवान्गर्गस्तस्य सांवत्सरोऽभवत् ॥ श्लोक १११ अ० ५९ शा० पर्व ॥
आत्मनाऽष्टम इत्येव श्रुतिरेषा परा नृषु ॥ श्लोक ११२ अ० ५९ शा० पर्व ॥

८—स विष्णुना च देवेन शक्रेण विबुधैः सह ।
ऋषिभिश्च प्रजापालैर्ब्राह्मणै-श्चाभिषेचितः ॥ श्लोक ११६ अ० ५९ शा० पर्व ॥

राजा पृथु ने सारे जगत को धर्ममय कर दिया था। इसने सारी प्रजा का रंजन किया था। इसीलिए वह सत्य अर्थ में राजा प्रसिद्ध हुआ।[1]

भीष्म द्वारा राज्य की उत्पत्ति के विषय में जो उपर्युक्त वर्णन दिया गया है वह मनुष्य जीवन के इतिहास को तीन मुख्य युगों में विभक्त करता है। पहला वह युग है जिस को उन्होंने सत्ययुग (कृतयुग) के नाम से सम्बोधित किया है। मनुष्य के जीवन का दूसरा युग वह है जिसमें मनुष्य पतित होकर पापमय जीवन की ओर अग्रसर होता है। तीसरा वह युग है जिसमें दण्डनीति शास्त्र का निर्माण होता है और उसके अनुसार मनुष्य अपने आचरण करने के लिए सुसंघठित राज्य-व्यवस्था के अधीन रहता है।

सत्ययुग—मनुष्य के प्रारम्भिक युग को भीष्म ने सत्ययुग के नाम से संबोधित किया है। यह सुख, शान्ति और सुमति का युग था। प्रत्येक व्यक्ति स्वधर्म-पालन में व्यस्त था और दूसरे की, उसके धर्म-पालन में, सामर्थ्य भर सहायता करता रहता था। उस युग में राज्य की परिपाटी का श्रीगणेश न हुआ था। राजा का निर्माण भी उस युग में न हुआ था। मनुष्य राजनीतिक जीवन से अभिज्ञ था। परन्तु वह सामाजिक जीवन व्यतीत करता था। वह बरबरता तथा पारस्परिक प्रतिद्वन्दिता एवं नृसंशता का युग कदापि न था। लोग सुखी और सम्पन्न थे, और पारस्परिक सहयोग एवं सद्भावना से प्रेरित होकर आनन्दमय जीवन व्यतीत करते थे।

भीष्म द्वारा वर्णित सत्ययुग किसी अंश तक उस प्राकृत युग से समानता रखता है जिसका वर्णन इंगलैण्ड के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता लाक (locke) ने अपने "आफ सिविल गवर्नमेन्ट" (Of Civil Government) नाम के प्रसिद्ध ग्रन्थ में किया है। उनके मतानुसार भी प्रारम्भिक युग (Original State of Nature) में शान्ति और विवेक (Peace and reason) का शासन था। यह युग राजनीतिक जीवन से पूर्व का जीवन तो अवश्य था परन्तु सामाजिक जीवन से पूर्व का युग न था। लाक के मतानुसार यह युग विधिहीन (Lawless) युग नहीं कहा जा सकता क्योंकि मनुष्य प्राकृत विधि (Natural laws) के अधीन रहता था। भीष्म का सत्ययुग हाब्स के प्राकृत युग (State of Nature) से नितान्त भिन्न था क्योंकि हाब्स उस युग को दुख, दरिद्रता, हिंसा, पारस्परिक कलह एवं प्रतिद्वन्द्वता का युग मानते हैं जिसमें मनुष्य अत्यन्त क्लेशमय पशुवत् जीवन व्यतीत करता था। भीष्म द्वारा प्रतिपादित यह सत्ययुग फ्रांस के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता रूसो (Rousseau) के प्राकृत युग से भी भिन्नता रखता है। रूसो (Rousseau) प्राकृत युग (State-of Nature) के मनुष्य को भावुक मानते हैं। वह उसको विवेक (Reason) से परित्यक्त पुरुष मानते हैं। विचार शक्ति एवं विवेक शक्ति के अभाव के कारण उस पुरुष को सुख-दुख का बोध नहीं होता था और इसीलिए वह मूढ़ मनुष्य को

१—रञ्जितास्च प्रजाः सवस्तेिन राजेति शब्यते ॥ श्लोक १२५ अ० ५६ शा० पर्व ॥

भाँति सुखी माना गया है। प्राकृत युग के मनुष्य के सुख का क्या स्वरूप रहा होगा इस विषय का बोध हिन्दी भाषा के प्रसिद्ध कवि तुलसीदास के इस कथन से स्पष्ट हो सकता है जब कि वह यह कहते हैं कि संसार में सबसे भले मूढ़ पुरुष होते हैं जिन्हें माया नहीं सताती ।[1] रूसो का प्राकृत युग का पुरुष बुद्धि तत्व पर निर्भर न होकर भावनाओं से प्रेरित होकर जीवन व्यतीत करता था परन्तु भीष्म के सत्ययुग के पुरुष में यह विशेषता नहीं है। वह विवेक युक्त है। अपनी और दूसरे की भलाई बुराई को समझता है और स्वधर्म पालन करता हुआ सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करता है। इसलिए भीष्म द्वारा प्रतिपादित सत्य युग की यदि किसी अंश में कुछ भी समानता की जा सकती है तो वह केवल लाक (Locke) द्वारा वर्णित प्राकृत युग से हो सकती है।

प्राकृत युग के मनुष्य का पतन—सत्य युग के उपरान्त भीष्म के मतानुसार मनुष्य एक ऐसे युग में प्रवेश करता है जिसमें सत्य युग के मनुष्य का जीवन नितान्त परिवर्तित होजाता है। मनुष्य पतित होकर ऐसे युग में प्रवेश करता है जिसमें पारस्परिक कलह, हिंसा, प्रतिद्वन्दता, अनाचार एवं अत्याचार आदि का साक्षात शासन होता है। उस नवीन युग में दोष-अदोष, भक्ष्याभक्ष्य, कर्म-अकर्म आदि का भेद नहीं रहता। मनुष्य अत्यन्त दैनीय, क्लेश और यातनामय पशुवत जीवन व्यतीत करता है।

प्राकृत युग (सत्ययुग) के पतन का युग किसी अंश तक हाब्स के प्राकृत युग (State of Nature) से समानता रखता है जिसमें मनुष्य स्वार्थान्ध होकर पारस्परिक नाश में संलग्न होकर पशुवत जीवन व्यतीत करता है।[2]

भीष्म के मतानुसार मनुष्य में सुर और असुर दोनों प्रकार की वृत्तियां होती हैं। सत्य युग में सुरवृत्तियां जाग्रत अवस्था में रहती हैं परन्तु उस युग में असुर वृत्तियां सुषुप्ति अवस्था में रहती हैं। इसलिए सत्य युग के मनुष्य में विकार उत्पन्न नहीं होने पाता परन्तु कुछ काल व्यतीत होने पर असुर वृत्तियां जाग्रत होने लगती हैं और वह लोभ, मोह, क्रोध, काम आदि असुर वृत्तियों के अधीन हो जाता है। बस इस समय से सत्ययुग के मनुष्य का पतन प्रारम्भ हो जाता है और धीरे-धीरे सत्ययुग का लोप हो जाता है। वह पारस्परिक कलह, प्रतिद्वन्द्विता, अनाचार, अत्याचार एवं

१—सब ते भले हैं मूढ़ जन जिन्हहिं न व्यापै जगत गति ॥ रामायण, तुलसीदास ॥

२—पाल्यमानास्तथाऽन्यो ऽन्यं नरा धर्मेण भारत ।
खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान्मोह आविशत् ॥ श्लोक १५ अ० ५९ शा० पर्व ॥

× × × × × ×

स्तनाश्च नाभ्यजानन्त कार्याकार्ये युधिष्ठिर ॥ श्लोक १९ अ० ५९ शा० पर्व ॥
अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्यं तथैव च ।
भक्ष्याभक्ष्यं च राजेन्द्र दोषादोषं च नात्यजन् ॥ श्लोक २० अ० ६५ शा० पर्व ॥

नृसंशता के दैनीय युग में प्रविष्ट हो जाता है जो कुछ काल में उसके लिए असह्य हो जाता है और जिससे निवृत्ति पाने के लिए मनुष्य नितान्त विह्वल हो जाता है ।

राज्य-निर्माण का युग---सत्य युग के मनुष्य का पतन हो जाने पर देवगण चिन्तित होकर भगवान ब्रह्मा के समक्ष प्रस्तुत हो कर सत्ययुग के मनुष्य के पतन से उसके जीवन में जो परिवर्तन हो गया उसका निवेदन करते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि वह कोई ऐसा उपाय बतलाएं जिससे मनुष्य पुनः सत्ययुग के जीवन में प्रवेश कर सके । इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त ब्रह्मा दण्डनीति का निर्माण करते हैं और आदेश देते हैं कि मनुष्यों को इस दण्डनीति के नियमों के अनुसार आचरण करना चाहिए । इन नियमों को भंग करने वाले मनुष्यों को उचित दण्ड भी मिलना चाहिए और तभी यह दण्डनीति वास्तविक रूप में क्रियात्मक रूप धारण कर सकती थी । इसी लिए एक ऐसे विशेष पुरुष के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई जो इस दण्डनीति के नियमों को लोगों के द्वारा कार्यान्वित कराने में समर्थ होता । ऐसे विशेष पुरुष की प्राप्ति हेतु वह भगवान विष्णु की शरण में जाते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि वह उन्हें मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य को लक्षित करने की कृपा करें जिसको वह लोग अपना राजा बनाएं । इस प्रकार भगवान विष्णु उन्हें ऐसे पुरुष को लक्षित कर देते हैं और उस पुरुष को वह लोग अपना राजा बना लेते हैं । परन्तु राजपद देने के पूर्व वह उस पुरुष से यह अनुबन्ध (Contract) करते हैं कि वह उनकी रक्षा करेगा और इस दण्डनीति शास्त्र के नियमों के अनुसार व्यवस्था स्थापित करेगा । वह कभी भी इन नियमों का उल्लंघन कर मनमानी न करेगा ।

इस प्रकार इस अनुबन्ध के अनुसार राज्य का निर्माण होता है और जिसका एक मात्र उद्देश्य सत्ययुग को पुनः प्राप्त करना है । रूसो (Rousseau) के राज्य-निर्माण का उद्देश्य भी सुख और शान्तिमय जीवन का पुनः निर्माण करना है । वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु एक नए सिद्धान्त की स्थापना करते हैं जो राजशास्त्र के इतिहास में समाज अनुबन्धवाद (Social Contract Theory) के नाम से विख्यात है । इस सिद्धान्त को स्थिर कर वह राज्य (State) और सरकार (Government) का निर्माण करते हैं जिसकी आधार शिला उन्होंने लोगों की सामान्य अभिरुचि (General will) मानी है । परन्तु भीष्म उस स्वर्ण युग (सत्य युग) के पुनर्निर्माण हेतु ब्रह्मा की शरण लेते हैं और वह एक विशाल ग्रन्थ की रचना कर लोगों को आदेश देते हैं कि मनुष्यों को इस ग्रन्थ में वर्णित नियमों के अनुसार अपना जीवन यापन करना चाहिए । इस दृष्टि से भीष्म रूसो से इस विषय में भिन्न मत रखते हैं । रूसो द्वारा कथित राज्य की आधार शिला लोगों की सामान्य अभिरुचि (General will) पर निर्भर है । परन्तु भीष्म जिस राज्य की स्थापना करना चाहते हैं उसका आधार ब्रह्मा द्वारा निर्मित विधि हैं । अथवा दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि रूसो जिस राज्य का निर्माण करना चाहते हैं उसका दायित्व लोगों की सामा-

न्य अभिरुचि (General will) पर आश्रित है परन्तु भीष्म के राज्य का दायित्व उस विधि संग्रह पर निर्भर है जिसका सृजन ब्रह्मा ने लोककल्याण के निमित्त किया था। इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह विधि पवित्र, श्रेष्ठतम, तथा नित्य हैं और भीष्म के राज्य का दायित्व इन विधियों पर आधारित है।

इस प्रकार भीष्म राज्य की उत्पत्ति के विषय में समाज अनुबन्धवाद (Social Contract Theory) का प्रतिपादन करते हैं। उनके इस सिद्धान्त के दो स्वरूप हैं एक का प्राकृत युग स्वर्ण युग है परन्तु दूसरे में वह युग यातनामय युग माना गया है। एक में मनुष्य स्वयं विधि निर्माण कार्य करते हैं और जिनके लागू करने के लिए वह ब्रह्मा द्वारा बतलाए गए पुरुष को अपना राजा स्वीकार करते हैं। परन्तु दूसरे में मनुष्य के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के विधिवत नियंत्रण एवं विकास हेतु ब्रह्मा द्वारा दण्डनीति शास्त्र का निर्माण किया जाता है जिसको क्रियात्मक रूप देने के लिए विष्णु द्वारा राजा लक्षित किया जाता है और जिसको जनता अपना राजा स्वीकार कर लेती है।

दैवी सिद्धान्त—राज्य की उत्पत्ति के विषय में भीष्म समाज अनुबन्धवाद के सिद्धान्त के साथ दैवी सिद्धान्त में भी उसी समान निष्ठा रखते थे। युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश करते हुए उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि राज्य की उत्पत्ति दैवी सिद्धान्त (Divine Theory) के आधार पर हुई है। वह, राजा की उत्पत्ति देवों के द्वारा हुई है, ऐसा मानते हैं। वह युधिष्ठिर को स्पष्ट बतलाते हैं कि देवों ने राजा की स्थापना की है, इसी से राजा की आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। इसी एक राजा के वश में यह समस्त जगत होता है और यह उसके बिना कुछ भी नहीं कर सकता।[1] विष्णु भगवान ने प्रथम लोक-कल्याण के निमित्त राजा पृथु को उत्पन्न किया था। भगवान विष्णु अपनी योग माया से स्वयं राजा पृथु के शरीर में प्रविष्ट हुए थे।[2] इस प्रकार भीष्म जगत के प्रथम वैध राजा को विष्णु रूप ही मानते थे। राजा में विष्णु ही साक्षात विराजते हैं। इसी प्रसंग में एक स्थल पर भीष्म युधिष्ठिर से राजा के महत्त्व का वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि बुद्धिमान तभी से यह कहते चले आए हैं कि देव और राजा में नितान्त समानता माननी चाहिए।[3] भीष्म के इस कथन से यह स्पष्ट विदित होता है कि राजा और देव में कोई अन्तर नहीं है। प्रजा के लिए दोनों का स्थान समान है जिस प्रकार लोगों के लिए देव उनके

१—स्थापितं च ततो देवैर्न कश्चिदतिवर्तते।
जगदस्यैकस्य च वशे तं चेदं न विधीयते॥ श्लोक १३५ अ० ५९ शा० पर्व॥

२—तपसा भगवान्विष्णुराविवेश च भूमिपम्॥ श्लोक १२८ अ० ५९ शा० पर्व॥

३—ततो जगति राजेन्द्र सततं शब्दितं बुधैः।
देवाश्च नरदेवाश्च तुल्या इति विशाम्पते॥ श्लोक १४४ अ० ५९ शा० पर्व॥

पूज्य होते हैं ठीक इसी प्रकार राजा भी उनके लिए पूज्य माना गया है। इस विषय में इसी सिद्धान्त के आधार पर भीष्म युधिष्ठिर से इन्द्र के मत का उल्लेख करते हैं और बतलाते हैं कि उनके इस कथन की पुष्टि इन्द्र ने भी की है और इन्द्र इसीलिए कहते हैं कि समस्त लोक के पूज्य राजा की जो अवहेलना करता है उसका दान, हवन और श्राद्ध कुछ भी सफल नहीं होता।[1] जो धर्मात्मा राजा है वह मनुष्यों का अधिपति और देव है। ऐसे धर्मात्मा राजा का अनादर देवता भी नहीं कर सकते।[2] इस प्रकार इन्द्र के मतानुसार धर्म-परायण राजा देवों के लिए भी पूज्य है और उसका स्थान देवों से भी ऊँचा होता है।

इतना ही नहीं वरन् युधिष्ठिर ने स्पष्ट रूप में यही प्रश्न किया है कि मनुष्यों के अधिपति राजा को ब्राह्मण लोग देवता क्यों मानते हैं?[3] इस प्रश्न के उत्तर में भीष्म राजा वसुमना और बृहस्पति का सम्वाद देते हैं। इस सम्वाद के आधार पर भीष्म इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं कि राजा देवता ही होता है। राजा वसुमना के द्वारा राजा के देवत्व के विषय में प्रश्न किए जाने पर बृहस्पति अनेक हेतुओं द्वारा राजा के देव होने के सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए एक स्थल पर कहते हैं--राजा भी तो मनुष्य ही है ऐसा समझ कर किसी मनुष्य को भी राजा का अपमान नहीं करना चाहिए। राजा मनुष्य रूप में महान देवता ही होता है। इसमें संदेह नहीं करना चाहिए।[4] वह फिर कहते हैं राजा समय के अनुसार पांच प्रकार के कार्यों (पापनाशन, गुप्तचरों द्वारा प्रजा की वास्तविक स्थिति जानकर उनका कल्याण साधन कार्य, दुष्टों का निग्रह, दान, अनुग्रह) का सम्पादन करता है उस समय वह अग्नि, आदित्य, मृत्यु कुबेर और यम का रूप धारण करता है।[5] इस प्रकार राजा अग्नि, आदित्य, मृत्यु, कुबेर और यम देवताओं का साक्षात रूप होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरण इस सिद्धान्त की पुष्टि हेतु पुष्ट प्रमाण हैं कि भीष्म राजा को देव ही मानते थे और वह इस प्रकार राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के प्रबल पोषक थे।

१--सर्वलोकगुरुं चैव राजानं योऽवमन्यते।
न तस्य दत्तं न हुतं न श्राद्धं फलते क्वचित्॥ श्लोक २८ अ० ६५ शा० पर्व॥

२--मानुषाणामधिपतिं देवभूतं सनातनम्।
देवाऽपि नावमन्यन्ते धर्मकामं नरेश्वरम्॥ श्लोक २९ अ० ६५ शा० पर्व॥

३--किमाहुर्दैवतं विप्रा राजानं भरतर्षभ॥
मनुष्याणामधिपतिं तन्मे ब्रूहि पितामह॥ श्लोक १ अ० ६८ शा० पर्व॥

४--न हि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥ श्लोक ४० अ० ६८ शा० पर्व॥

५--कुरुते पंचरूपाणि काल युक्तानि यः सदा।
भवत्यग्निस्तथादित्यो मृत्युर्वैश्रवणो यमः॥ श्लोक ४१ अ० ६८ शा० पर्व॥

भीष्म के दैवी सिद्धान्त की विशेषता—भीष्म राजा के दैवी उत्पत्ति के जिस सिद्धान्त की स्थापना करते हैं वह अपनी विशेषता रखता है। प्रत्येक राजा देवत्व का अधिकारी है—इस सिद्धान्त का समर्थन वह नहीं करते। उन्होंने एक स्थल पर इस विषय पर अपने विचार स्पष्ट रूप से प्रकट करते हुए यह बतलाया है कि धर्मपरायण राजा ही देव-पद प्राप्त कर सकता है। इस विषय में उनका कथन है कि जो धर्मपरायण राजा है वह मनुष्यों का अधिपति तथा सनातन देव है। ऐसे धर्मपरायण राजा का देवता भी अनादर नहीं कर सकते।[1] इसके अतिरिक्त उस प्रसंग में भी जिसमें राजा पृथु में विष्णु भगवान अपना तेज प्रवेश कर समस्त संसार से राजा पृथु की पूजा कराते हैं[2] इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि समस्त राजा देव नहीं माने जा सकते। केवल वह राजा देव माना जाएगा जिसमें भगवान के दिव्य गुण वास करते हैं। दूसरे शब्दों में इस वर्णन से भी इसी सिद्धान्त की स्थापना होती है कि धर्मपरायण राजा ही देवत्व को प्राप्त होता है, अन्य राजा नहीं। उतथ्य ऋषि मान्धाता से स्पष्ट कहते हैं कि राजा धर्माचरण के लिए होता है न कि केवल काम भोग के लिए।[3] राजा यदि धर्माचरण करता है तो देवत्व को प्राप्त होता है। अधर्म आचरण करने से वह नरकगामी हुआ करता है।[4] जो राजा श्रीमान् और परम धर्मशील होता है, लोग उस को ही धर्म कहा करते हैं।

भीष्म शुक्र की भाँति प्रकृति के तीन गुणों—सत, रज और तम—का राजाओं में प्राधान्य के आधार पर उन्हें तीन वर्गों में विभाजित नहीं करते और न उन राजाओं को ही देवत्व का पद देते हैं जिनमें सतोगुण का प्राधान्य है।[5] इसके विपरीत भीष्म राजपद के लिए रजोगुण का रहना अनिवार्य मानते हैं। इन्होंने इस विषय में ऐसा स्पष्ट बतलाया है कि देवों के निवेदन करने पर भगवान विष्णु ने लोगों का

१—मानुषाणामधिपतिं देवभूतं सनातनम्।
देवाऽपि नावमन्यन्ते धर्मकामं नरेश्वरं॥ श्लोक २९ अ० ६५ शा० पर्व॥

२—तपसा भगवान्विष्णुराविवेश च भूमिपम्।
देववन्नरदेवानां नमते यं जगन्नृपम्॥ श्लोक १२८ अ० ५९ शा० पर्व॥

३—धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु।
मान्धातरिति जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता॥ श्लोक ३ अ० ९० शा० पर्व॥

४—राजा चरति चेद्धर्मं देवत्वायैव कल्पते।
स चेदधर्मं स चरति नरकायैव गच्छति॥ श्लोक ४ अ० ९० शा० पर्व॥

५—सात्त्विकं तामसं चैव राजसं त्रिविधं तपः।
यादृक् तपति योऽत्यर्थं तादृग्भवति सो नृपः॥ श्लोक २९ अ० १ शुक्रनीति॥
राक्षसांशस्तु तामसः॥ श्लोक ३५ अ० १ शुक्रनीति॥
राजसो मानवांशस्तु॥ श्लोक ३५ अ० १ शुक्रनीति॥
देवांशस्सात्त्विकः॥ श्लोक ३५ अ० १ शुक्रनीति॥

राजा निर्माण करने के लिए रजोगुण रहित एक मानस पुत्र का सृजन किया था।[१] परन्तु उस महानुभाव ने रजोगुण रहित होने के कारण पृथ्वी का स्वामी होना स्वीकार नहीं किया था क्योंकि उस की बुद्धि तो प्रारम्भ से ही (सतोगुण प्राधान्य होने के कारण) सन्यास की ओर प्रवृत्त हो गयी थी।[२] इस प्रकार भीष्म सतोगुण को वैराग्य का साधन मान कर शासन कार्य के लिए रजोगुण की परम आवश्यकता बतलाते हैं। रजोगुण का प्रकाश शारीरिक बल में होता है जो पापियों के दमन के लिए परम आवश्यक माना गया है। परन्तु इस शारीरिक बल का नियंत्रण भी होना चाहिए जिस से राजा उद्दण्ड न होने पाए। इसीलिए राजा को धर्मपरायण होने की आवश्यकता भीष्म ने बतलायी है। राजा का कर्त्तव्य केवल इतना ही बतलाया गया है कि वह ब्रह्मा द्वारा निर्माण किए गए दण्डनीति शास्त्र के नियमों को प्रजा में लागू करे। इस प्रकार भीष्म शुक्र द्वारा प्रतिपादित राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त से भिन्नता रखते हैं और वह इस विषय में शुक्र की अपेक्षा अधिक हेतुयुक्त दिखलायी पड़ते हैं।

दूसरी ओर भीष्म का यह सिद्धान्त मनु के तत्सम्बन्धी सिद्धान्त से भी किसी अंश में भिन्नता रखता है। मनु बालक राजा को भी देवत्व का पद प्रदान करते हैं उनकी दृष्टि में प्रत्येक राजा, जब तक कि उसमें विशेष दुर्गुण न हों, देवत्व को धारण करता है इसीलिए उन्होंने बालक राजा को भी मनुष्यरूप में देव ही माना है।[३] परन्तु भीष्म की दृष्टि में केवल धर्मपरायण राजा ही देवपद पर आसीन माना जा सकता है अन्य राजा नहीं।

दैवी सिद्धान्त की प्राचीनता—राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का उल्लेख भीष्म ने ही सर्व प्रथम किया है ऐसा नहीं है। इस सिद्धान्त के चिह्न भारत के प्राचीनतम ग्रन्थों में पाए जाते हैं। ऋग्वेद में राजा को इन्द्र और वरुण आदि नामों से सम्बोधित किया गया है।[४] यजुर्वेद में एक स्थल पर राजा को कुछ विशेष

१—ततः संचिन्त्य भगवान्देवो नारायणः प्रभुः।
तेजसं वै विरजसं सोऽसृजन्मानसं सुतम्॥ श्लोक ८८ अ० ५९ शा० पर्व॥

२—विरजास्तु महाभागः प्रभुत्वं भुवि नैच्छत।
न्यासायैवा भवद्बुद्धिः प्रणीता तस्य पाण्डव॥ श्लोक ८९ अ० ५९ शा० पर्व॥

३—बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महतीदेवताह्येषा नररूपेणतिष्ठति॥ श्लोक ८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

४—अहं राजा वरुणो............॥ मंत्र २ सू० ४२ मण्डल ४ ऋग्वेद॥
अहमिन्द्रोवरुणः................॥ मंत्र ३ सू० ४२ मण्डल ४ ऋग्वेद॥
राजा वरुणः...............॥ मंत्र १३ सू० २४ मण्डल १ ऋग्वेद॥
त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं॥ मंत्र ४ सू० १ मण्डल २ ऋग्वेद॥
सोअस्मान्राजावरुणोमुमोक्तु ॥ मंत्र १२ सू० २४ मण्डल १ ऋग्वेद॥

गुणों की प्राप्ति करने की ओर संकेत किया गया है। इसका उल्लेख इस प्रकार है—(हे राजन्) सविता तुझे आज्ञा प्रसारित करने के लिए, अग्नि तुझे गृहस्थों की रक्षा के लिए, सोम तुझे वनस्पतियों की रक्षा के लिए, वृहस्पति तुझे वाणी के लिए और वरुण धर्म की रक्षा के लिए शक्ति प्रदान करें।[1] यजुर्वेद की इस ऋचा से यह विदित होता है कि राजा सूर्य, अग्नि, सोम, वृहस्पति, इन्द्र, रुद्र, मित्र और वरुण की शक्तियों को प्राप्त हो इस विषय की प्रार्थना राजा के लिए उसके राज्याभिषेक के अवसर पर पुरोहित करता था। पुरोहित द्वारा इन देवों की शक्तियों का आधान राजा में किया जाता था। इस कृत्य के करने के उपरान्त वह राजपद प्राप्त करता था। इस ऋचा के अनुसार राजपद प्राप्ति हेतु सूर्य, अग्नि, सोम, वृहस्पति, इन्द्र, रुद्र, मित्र, सत्य, वरुण और धर्म इन आठ देवों के तत्वों को प्राप्त करना अनिवार्य था। यजुर्वेद में दूसरे स्थल पर राजा को वरुण देव कह कर सम्बोधित किया गया है। वह इस प्रकार है—सम्राट इन्द्र होता है और राजा वरुण।[2] हे राजन्! तू इन्द्र का वज्र है, तू ही मित्र और वरुण है।[3] तू ब्रह्म है, तू सविता है, तू वरुण है, तू इन्द्र है, तू रुद्र है, तू इन्द्र का वज्र है, तू मेरी रक्षा कर।[4] यजुर्वेद की एक ऋचा में राजा के लिए वैष्णवान् शब्द का प्रयोग किया गया है[5] जिसका अर्थ है विष्णु की विभूतियों से युक्त अर्थात् विष्णु का साक्षात रूप राजा होता है। इस प्रकार ऋग् और यजुर्वेद में राजा की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त के संकेत पाए जाते हैं।

अथर्ववेद में भी इस सिद्धान्त के चिन्ह उपलब्ध हैं। यहां राजा को इन्द्र, सोम, वरुण, मित्र, यम, सूर्य आदि देवों का अंश माना गया है। अथर्ववेद में एक स्थल पर यह बतलाया गया है कि राजा इन्द्र का अंश है, वह सोम का अंश है, वह वरुण का अंश है, मित्र का अंश, यम का अंश, पितृ का अंश और सविता का अंश है,[6] अर्थात

१—सविता त्वा सवानां सुवतामग्निर्गृहपतीनाम् सोमो वनस्पतीनाम्।
बृहस्पतिर्वाच इन्द्रो ज्यैष्ठाय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम्॥
मंत्र ३९ अ० ९ यजुर्वेद॥

२—इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा × × ×॥ मंत्र ३७ अ० ८ यजुर्वेद॥

३—इन्द्रस्य वज्रोऽसि मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशास्त्रोः प्रशिषा युनज्मि॥
मंत्र २१ अ० १० यजुर्वेद॥

४—× × × ब्रह्मन्त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसवो वरुणोऽसि सत्यौजा इन्द्रोऽसि विशौजा रुद्रोऽसि सुशेवः।
बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करेन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्य॥ मंत्र २८ अ० १० यजुर्वेद॥

५—रक्षोहणो वो बलगहनः प्रोक्षामि वैष्णवान् × × ×॥ मंत्र २५ अ० ५ यजुर्वेद॥

६—इन्द्रस्य भागस्थ॥ सोमस्य भागस्थ॥ वरुणस्य भागस्थ॥ मित्रावरुणयोर्भागस्थ॥ यमस्य भागस्थ॥ पितृणां भागस्थ॥ देवस्य सवितुर्भागस्थ॥ मंत्र ८ से १४ सूक्त ५ का० १० अथर्ववेद॥

राजा का निर्माण इन्द्र, सोम, वरुण, मित्र, यम, पितृ और सूर्य आदि देवों के अंशों से किया गया है। अथर्ववेद में राजा का आसन विष्णुपद के नाम से सम्बोधित किया गया है। एक प्रसंग में यह स्पष्ट कहा गया है कि हे राजन् "तू विष्णु-पद पर आसीन है।"[1] अथर्ववेद के इसी सूक्त में राजा को विष्णु-पद पर प्रतिष्ठित किया गया है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशा, आशा, ऋक्, यज्ञ, औषधि, जल, कृषि और प्राण इन ग्यारह पदार्थों से उसको उत्पन्न करके क्रम से उसमें अग्नि, वायु, सूर्य, मन, बात, सोम, ब्रह्म, वरुण, अन्त और पुरुष इनके तेज से तेजस्वी किया जाता है। नूतन राजा विष्णु पद (राजपद) पर प्रतिष्ठित होकर उक्त पदार्थों अथवा देवों के अंश को प्राप्त कर तेजस्वी हो जाता है।[2]

इस प्रकार ऋक्, यजु: और अथर्व वेद में देवांशों को संग्रहीत कर राजा के निर्माण का विधान किया गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है कि इन्द्र ने प्रजापति से राजसत्ता का अधिकार प्राप्त किया। कथा इस प्रकार है--प्रजापति ने इन्द्र को देवों का राजा बनाने की इच्छा प्रकट की। इन्द्र ने राजपद पाने के योग्य बनने के लिए प्रजापति से उनके तेज की प्राप्ति के निमित्त याचना की, जिसके प्राप्त कर लेने के उपरान्त इन्द्र देवों का राजा बन गया, यद्यपि वह देवों में सबसे छोटा था।[3] प्रजापति के तेज को प्राप्त करने के पूर्व इन्द्र साधारण देव था। परन्तु प्रजापति के तेज को धारण कर इन्द्र देवराज बन गया। यह कथा इस सिद्धान्त का समर्थन करती है कि राजपद वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जिसमें भगवान का तेज (अंश) विद्यमान हो। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहना उचित होगा कि तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार राजा भगवान का अंश होता है।

शतपथ ब्राह्मण में भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है। इस ग्रन्थ में स्पष्ट बतलाया गया है कि राज्याभिषेक के हो जाने के उपरान्त मनुष्य देवत्व को प्राप्त हो जाता है और फिर वह भी एक प्रधान देव हो जाता है। इसी सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर इस प्रकार उल्लेख है कि जिस व्यक्ति का राज्याभिषेक होता है वह

१—विष्णोः क्रमोऽसि × × × ।। मंत्र २५ सूक्त ५ का० १० अथर्ववेद ।।

२—देखिए मंत्र २५ से मंत्र ३५ तक सूक्त ५ का० १० अथर्ववेद ।।

३—प्रजापतिरिन्द्र सृजतानुजावरं देवान् । तं प्राहिणोत । परेहि । एतेषां देवानामधिपति रेधति × × × अथ । इदंतर्हि प्रजापतो हर आसीत । यदस्मिन्नादित्ये । तदेनमब्रवीत एतन्मे प्रयच्छ । अथाहमेतेषां देवानामधिपतिरभविष्यामीति × × अतो वा इन्द्रो देवानामधिपतिरभवत ।। वार्ता १–२ अनु० १० अ० २ अष्टं० २ तैतिरीय ब्राह्मण ।।

होतृ (Sacrificer) और विष्णु दोनों एक ही साथ होता है। शतपथ ब्राह्मण में राजा को प्रजापति का प्रतिनिधि इस भूतल पर माना गया है।[1]

वाल्मीकीय रामायण में भी राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। रामायण में ऐसा वर्णन मिलता है--राजा देव है, वह इस पृथ्वी तल पर मनुष्य शरीर धारण कर विचरता है। इसलिए राजा की हिंसा नहीं करनी चाहिए उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए, उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए और उसके प्रतिकूल नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि राजा देव है वह मनुष्यरूप धारण कर भूतल पर विचरण करते हैं।[2] रामायण के अनुसार राजा सत्य है, धर्म है और कुलमानों का भी कुल है। राजा माता-पिता है। वह मनुष्यों का हितैषी है। महान चरित्रबल से युक्त राजा से महाबली यम, कुबेर, इन्द्र और वरुण देव भी छोटे हैं।[3]

मानवधर्मशास्त्र में भी राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का भलीभांति प्रतिपादन किया गया है। राजा की उत्पत्ति के विषय में मानवधर्मशास्त्र में ऐसा वर्णन उपलब्ध है--ईश्वर ने इस समस्त जगत की रक्षा के निमित्त इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर की शाश्वत मात्राओं (सार भूत अंशों) को निकालकर राजा का निर्माण किया है।[4] मानवधर्मशास्त्र के इस वर्णन के आधार पर ऐसा स्पष्ट विदित होता है कि मानवधर्मशास्त्र राजा की दैवी उत्पत्ति की पुष्टि करता है। इतना ही नहीं वरन् उसमें राजा को देवों से भी ऊँचा स्थान दिया गया है क्योंकि मानवधर्मशास्त्र के अनुसार इन्द्र, वायु, यम, कुबेर आदि आठ देवों के सारभूतों को धारण करने के कारण राजा इन देवों में से प्रत्येक से बड़ा माना जाएगा। मानवधर्मशास्त्र में राजपद अत्यन्त पुनीत माना गया है। इस दृष्टिकोण से इस ग्रन्थ में ऐसा आदेश दिया गया है कि राजा चाहे बालक ही क्यों न हो परन्तु यह समझ कर कि वह मनुष्य है उसका अपमान कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि राजा मनुष्य रूप में एक महान देव

१--यो दीक्षते ते स देवानामेको भवत्यनुत्यक्तं वै देवानाहवि रथैतद्व्रतप्रदो ॥
२· ३· १६ शतपथ ब्राह्मण ॥

२--तान्नहिंस्यान्न चाक्रोशेन्नक्षिपेन्नप्रियं वदेत् ।
देवा मानुषरूपेण चरन्त्येते महीतले ॥ श्लोक ४२ सर्ग १८ किष्किन्धाकाण्ड ॥

३--राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतांकुलम् ।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम् ॥ श्लोक ३४ सर्ग ६७ अयोध्याकांड ॥
यमो वैश्रवणः शक्रोवरुणश्च महाबलः ।
विशिष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महतातत: ॥ श्लोक ३५ सर्ग ६७ अयोध्याकाण्ड ॥

४--रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ श्लोक ३ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्यच ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्यशाश्वतीः ॥ श्लोक ४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

पृथ्वीतल पर विचरता है।[१] ऐसे राजा का अपमान करना महान देव का अपमान माना जाएगा। मानवधर्मशास्त्र में राजा के विषय में कहे गए इन वाक्यों के पढ़ लेने के उपरान्त इस विषय का लेश मात्र भी सन्देह नहीं रह जाता कि मानवधर्मशास्त्र में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। आचार्य कौटिल्य इन्द्र और यम दोनों के पदों को एक राजपद में समाविष्ट मानते हैं। वह ऐसा मानते हैं कि राजा का अपमान करने वाले व्यक्ति को ईश्वर दण्ड देता है।[२]

पुराणों में भी राजा की दैवी उत्पत्ति की पुष्टि की गई है। विष्णु पुराण में राजा बेन के मुख से यह कहलवाया गया है--ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, वरुण, धाता, पूषा, पृथ्वी और चन्द्र तथा इनके अतिरिक्त और भी जितने देव शाप और कृपा करने में समर्थ हैं वह सभी राजा के शरीर में वास करते हैं। इस प्रकार राजा सर्व देवमय है।[३]

बृहस्पतिस्मृति में भी राजा की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का समर्थन मानवधर्मशास्त्र के अनुसार ही किया गया है। बृहस्पतिस्मृति के अनुसार सोम, अग्नि, सूर्य, वायु, इन्द्र, कुबेर और यम के तेजमय अंशों मात्र (तेजोमात्र) को संग्रहीत कर राजा की मूर्ति की रचना की गई है।[४]

राजा की दैवी उत्पत्ति का यह सिद्धान्त भारत में गुप्त युग में भी प्रचलित रहा। गुप्त युग में राजा कुबेर, वरुण, इन्द्र और यम के समान माना जाता था। लोग राजा को मनुष्य रूप में देव समझते थे। राजा को देव एवं अचिन्त्य पुरुष आदि शब्दों से सम्बोधित करते थे। गुप्त कालीन शिला अभिलेखों से यह बात भली प्रकार सिद्ध होती है।[५] संस्कृत साहित्य में अचिंत्य पुरुष शब्द का प्रयोग भगवान के लिए हुआ है। परन्तु गुप्त कालीन शिला-अभिलेखों में इस शब्द का प्रयोग गुप्त राजाओं के लिए हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि गुप्त काल में भी राजा देव अथवा भगवान का अंश माना जाता था। उसकी गणना इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर आदि देवों में की जाती थी।

१--बालोऽपिनावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नर रूपेण तिष्ठति ॥ श्लोक ८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

२--इन्द्रयमस्थानमेतद्राजानः ॥ वार्ता १० अ० १३ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥
तानवमन्यमानान्दैवोऽपि दण्डः स्पृशति ॥ वार्ता ११ अ० १३ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३--ब्रह्मा जनार्दनः शम्भुरिन्द्रो वायुर्यमो रविः।
हुतभुग्वरुणोधाता पूषाभूमिर्निशाकरः ॥ २१ अ० १३ अंश १ विष्णु पुराण ॥
एते चान्ये च ये देवाः शापनुग्रहकारिणः।
नृपस्यैते शरीरस्थाः सर्वदेवमयो नृपः ॥ श्लोक २१ अ० १३ अंश १ विष्णु पुराण ॥

४--सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्यत्योयमस्य च ॥ श्लोक ६ काण्ड १ बृहस्पतिस्मृति ॥
तेजोमात्रंसमुद्धृत्य राज्ञो मूर्तिर्हिनिर्मिता ॥ श्लोक ७ काण्ड १ बृहस्पतिस्मृति ॥

५--अचिंत्यपुरुष धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य लोकधाम प्रलयहेतु ॥
प्रयाग स्तम्भअभिलेख, समुद्रगुप्त ॥

राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की यह धारा हिन्दू राज्य में निरन्तर प्रवाहित रही जिसके चिन्ह आज भी हिन्दू जनता के मध्य किसी न किसी रूप में प्रकट हो रहे हैं। उसका यह परिणाम हुआ है कि ऐसे युग मे भी जब कि विश्व में राज-क्रान्तियों का प्राबल्य हो और प्रत्येक राज्य से राजपद को मिटाए जाने के लिए प्रयत्न हो रहे हों हिन्दू जनता राजभक्त रही है। यह राजद्रोह से घृणा करती है और न्यायी राजा का वध करना उसकी दृष्टि में ऐसा महान पाप है जिसके प्रायश्चित का विधान हिन्दू शास्त्रकारों ने कहीं भी नहीं किया है। न्यायी राजा के विरोध में विप्लव का झण्डा खड़ा करना उसके लिए सदैव असह्य रहा है।

राज्य का सावयव स्वरूप—भीष्म राज्य को सप्तात्मक राज्य के नाम से सम्बोधित करते हैं। इस प्रकार वह राज्य को एक ऐसा अवयवी मानते हैं जिसके सात अवयव अथवा अंग होते हैं। यह सात अवयव या अंग आत्मा (राजा), अमात्य, कोश, दण्ड (सेना), मित्र, जनपद और पुर हैं।[1] इस प्रकार भीष्म राज्य के सावयव स्वरूप की ओर संकेत करते हैं। परन्तु यह संकेत मात्र ही है। इस संकेत के आधार पर राज्य के सावयव स्वरूप के सिद्धान्त को पूर्णरूप से स्थिर नहीं किया जा सकता और इसीलिए यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता कि भीष्म की इस सिद्धान्त के विषय में क्या धारणा रही होगी। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भीष्म राज्य की उत्पत्ति के इस सिद्धान्त में निष्ठा अवश्य रखते थे।

राज्य के सावयव स्वरूप के सिद्धान्त के चिन्ह आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। ऋग्वेद में समस्त जगत की कल्पना विराट् पुरुष के रूप में की गई है और उसके अवयवों के द्वारा सृष्टि के विभिन्न रूपों का बोध कराया गया है। इस प्रसंग में समाज को सावयवी मानकर समाज के लोगों को उस अवयवी के चार मुख्य अवयव माने गए हैं जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों के नाम से सम्बोधित किए गए हैं। ऋग्वेद में इस विषय में इस प्रकार वर्णन मिलता है—मेरे (विराट पुरुष के) मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, जंघों से वैश्य और पादों से शूद्र की उत्पत्ति हुई।[2] यजुर्वेद का पुरुष-सूक्त इन्ही विचारों की पुनरावृत्ति करता हुआ स्पष्ट बतलाता है—मेरे मन से चन्द्रमा, आंखों से सूर्य की उत्पत्ति हुई इत्यादि।[3] यद्यपि इन स्थलों पर राज्य का उल्लेख नहीं है परन्तु इस सिद्धान्त का जन्म दूसरे रूप में अवश्य हो चुका था इस विषय की पुष्टि यह उद्धहरण अवश्य करते हैं।

१—आत्माऽमात्याश्चकोशश्चदण्डोमित्राणि चैवहि ॥ श्लोक ६४ अ० ६९ शा० पर्व ॥
तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरुनन्दन।
एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः ॥ श्लोक ६५ अ० ६९ शा० पर्व ॥

२—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहूराजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥ मंत्र १२ सूक्त ९० मण्डल १० ऋग्वेद ॥

३—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहूराजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥ मंत्र ११ अ० ३१ यजुर्वेद ॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ मंत्र १२ अ० ३१ यजुर्वेद ॥

यजुर्वेद के बीसवें अध्याय में एक स्थल पर राज्य का वर्णन पुरुष रूप में किया गया है। यहाँ पर राजा को उस पुरुष का प्राण माना गया है।[1] इस प्रसंग में दूसरी ऋचा में इस प्रकार वर्णन किया गया है—मेरी पीठ राष्ट्र है, उदर, कन्धे, ग्रीवा, कटि प्रदेश, जंघा, गट्टे, घुटने मेरे (विराट् पुरुष के) यह सब अंग मेरी प्रजा हैं।[2] इस प्रकार यजुर्वेद में भी इस सिद्धान्त के समर्थन में कुछ उदाहरण मिलते हैं। परन्तु यह भी संकेत मात्र ही हैं। इसलिए इन संकेतों के आधार पर राज्य के सावयव सिद्धान्त का स्पष्ट रूप स्थिर नहीं किया जा सकता।

भगवद्गीता में भी भगवान के विराट् रूप की कल्पना करते हुए विराट् पुरुष को एक अवयवी और जगत के विभिन्न रूपों को उसके अवयव या अंग माना गया है।[3] कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र इन सात को सप्त प्रकृति मानकर इन्हें सप्तांग अथवा सप्तात्मक राज्य के सात अंग अथवा अवयव मानते हैं।[4] मनु ने भी राज्य को सप्तांग राज्य माना है। उनका मत है कि स्वामी, अमात्य, पुर, राष्ट्र, कोष, दण्ड और सहृद् यह राज्य की सात प्रकृतियां होती हैं जिनके संयोग से सप्तांग राज्य का निर्माण होता है।[5] उनके मतानुसार राज्य के इन सातों अंगों में अपने अपने गुण की विशेषता से कोई भी अंग एक दूसरे से विशिष्ट नहीं है (अर्थात इनमें से प्रत्येक अंग अपने-अपने स्थान पर समान महत्त्व रखता है) और यह सातों अंग एक दूसरे के सहारे इस प्रकार खड़े रहते हैं जिस प्रकार तीन दण्ड (दण्डे) एक दूसरे के सहारे पर खड़े रहने में समर्थ होते हैं।[6] बृहस्पति स्मृति में भी राज्य की सप्त प्रकृतियों की ओर संकेत मिलता है।[7] शुक्रनीति में राज्य के सावयव स्वरूप (Organic Nature of the State) का समर्थन किसी अंश तक स्पष्ट रूप में हुआ है। यहाँ राज्य को सप्तांग राज्य के नाम से सम्बोधित करते हुए लिखा गया है कि स्वामी, अमात्य, सुहृद, कोष, दुर्ग, राष्ट्र, और बल यह राज्य के सात अंग माने गए हैं, जिनमें राजा (स्वामी) मस्तक माना गया है।

१—राजा मे प्राणो × × × × ॥ मंत्र ५ अ० २० यजुर्वेद ॥

२—पृष्टी मे राष्ट्रमुदरंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी ।
ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ मंत्र ८ अ० २० यजुर्वेद

३—देखिए श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ग्यारह ॥

४—स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोश दण्ड मित्राणि प्रकृतयः ॥ वार्ता १ अ० १ अधि० ६ अर्थशास्त्र ॥

५—स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोषदण्डौ सुहृत्तथा ।
सप्त प्रकृतयोह्येताः सप्ताङ्ग राज्यमुच्यते ॥ श्लोक २९४ अ० ९ मानवधर्मशास्त्र ॥

६—सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् ।
अन्योन्यं गुणवैशेष्यान्न किञ्चिदतिरिच्यते ॥ श्लोक २९६ अ० ९ मानवधर्मशास्त्र ॥

७—सप्तप्रकृतिकं यत्तु विजिगीषोररेश्च यत् ॥ श्लोक २३ काण्ड १ बृहस्पति स्मृति ॥

अमात्य राज्य रूपी पुरुष के नेत्र, सुहृद् कान, कोष मुख, दुर्ग हाथ, राष्ट्र पाद, और बल को मन माना गया है।[1] इस प्रकार शुक्रनीति में राज्य की कल्पना पुरुष के रूप में की गयी है। शुक्रनीति में एक स्थल पर राज्य की समता वृक्ष से की गई है—राज्य एक वृक्ष है जिसका मूल राजा है, मंत्री स्कन्ध, सेनापति शाखा, सेना पल्लव और कुसुम, प्रजा फल, और भू-भाग बीज बतलाया गया है।[2] इस प्रकार शुक्रनीति भी भीष्म के द्वारा प्रतिपादित राज्य के सावयव स्वरूप का स्पष्ट शब्दों में समर्थन करती है।

उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि प्राचीन भारत में राजनीति क्षेत्र में राज्य के सावयव स्वरूप को भी स्थिर किया गया था और इस सिद्धान्त की पुष्टि भीष्म ने भी की है।

———
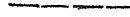
१—स्वाम्यमात्यसुहृत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि च।
सप्तांगमुच्यते राज्यं तत्र मूर्धा नृपः स्मृतः॥ श्लोक ६१ अ० १ शुक्रनीति॥
दृगमात्यासुहृच्छ्रोत्रं मुखंकोशो बलं मनः।
हस्तौपादौ दुर्गराष्ट्रौ राज्यांगानि स्मृतानिहि॥ श्लोक ६२ अ० १ शुक्रनीति॥

२—राज्यवृक्षस्य नृपतिर्मूलं स्कन्धाश्च मंत्रिणः॥ श्लोक १२५७ अ० ४ शुक्रनीति॥
शाखाः सेनाधिपा सेनाः पल्लवाः कुसुमानि च।
प्रजाः फलानि भूभागा बीजं भूमि प्रकल्पिता॥ श्लोक १२५८ अ० ४ शुक्रनीति॥

द्वितीय अध्याय

राजा

राजा का महत्त्व एवं उसकी आवश्यकता—प्राचीन भारत के राजशास्त्र के आचार्यों ने सप्तात्मक राज्य का प्रधान अंग राजा माना है। लगभग सभी प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के प्रणेताओं ने राजा के महत्त्व एवं उसकी आवश्यकता पर बड़ा बल दिया है। भीष्म ने भी इस विषय पर विशेष महत्त्व दिया है। राजा के महत्त्व एवं उसकी आवश्यकता की पुष्टि में वह राजा युधिष्ठिर के समक्ष कोसल राज्य के नरेश बसुमना और बृहस्पति का सम्वाद प्रस्तुत करते हुए बृहस्पति के मत का उद्धरण देते हैं—संसार में धर्म की स्थिति राजा के अधीन है। प्रजा राजा के भय से ही परस्पर एक दूसरे को मारती नहीं है।[1] राजा ही मर्यादाहीन पुरुषों को अपने दण्ड से शुद्ध करता है और इस प्रकार प्रजा को शुद्ध करके वह अपने तेज से देदीप्यमान रहता है।[2] जैसे सूर्य अथवा चन्द्रमा के उदय न होने पर समस्त प्राणी गाढ़ान्धकार में लीन हो जाते हैं और परस्पर एक दूसरे को देख भी नहीं सकते, जिस प्रकार थोड़े जल से युक्त तड़ाग में मछली और हिंसक के भय से रहित स्थान में पक्षी एक दूसरे का नाश करते हुए निर्विघ्न विचरते हैं, यह परस्पर बलपूर्वक एक दूसरे पर आक्रमण करते हैं और थोड़े ही काल में अभाव को प्राप्त हो जाते हैं इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, इसी प्रकार राजा के नष्ट हो जाने पर प्रजा भी नष्ट हो जाती है और ग्वाला से रहित पशुओं की भाँति गहरे अन्धकार में इधर-उधर भटककर नष्ट हो जाती है।[3] राजा के अभाव में बलवान निर्बलों के सब कुछ (धन, स्त्री आदि)

१—राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते ।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम् ।। श्लोक ८ अ० ६८ शा० पर्व ।।

२—राजा ह्येवाखिलं लोकं समुदीर्णं समुत्सुकम् ।
प्रसादयति धर्मेण प्रसाद्य च विराजते ।। श्लोक ९ अ० ६८ शा० पर्व ।।

३—यथा ह्यनुदये राजन्भूतानि शशिसूर्ययोः ।
अन्धे तमसि मज्जेयुरपश्यन्तः परस्परम् ।। श्लोक १० अ० ६८ शा० पर्व ।।
यथा ह्यनुदके मत्स्या निराक्रन्दे विहंगमाः ।
विहरेयुर्यथाकामं विहिंसन्तः पुनः पुनः ।। श्लोक ११ अ० ६८ शा० पर्व ।।
विमथ्यातिक्रमेरंश्च विषह्यापि परस्परम् ।
अभावमचिरेणैव गच्छेयुर्नात्रसंशयः ।। श्लोक १२ अ० ६८ शा० पर्व ।।
एवमेव विना राज्ञा विनश्येयुरिमाः प्रजाः ।
अन्धे तमसि मज्जेयुरगोपाः पशवो यथा ।। श्लोक १३ अ० ६८ शा० पर्व ।।

अपहरण कर लेते और यदि उनको कोई रोकता तो वह उसका भी वध कर देते।[1] कोई भी धन आदि का संग्रह नहीं कर पाता और न कोई निर्बल मनुष्य यह कह सकता कि अमुक धन मेरा है। न किसी के पास स्त्री रहने पाती न पुत्र, न धन और न अन्य परिग्रह (सामग्री) रह सकता था। यदि राजा जगत की रक्षा में प्रवृत्त न हो तो सब ओर घोर अन्धकार (अन्याय) मच जाए।[2] पापी लोग यान, स्त्री, अलङ्कार तथा अनेक प्रकार के रत्नों को एक दम बलपूर्वक छीन लेते यदि राजा प्रजापालन में प्रवृत्त न होता।[3] यदि राजा प्रजापालन का भार अपने ऊपर न लेता तो लोग माता, पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि और गुरु तक को पीड़ा देने में प्रवृत्त दिखायी देते।[4] जो धनवान होते उनको नित्य वध और बन्धन का दुःख सहना पड़ता। कोई किसी का प्रेमी बान्धव नहीं होता—जो अपना महत्त्व दिखाता—यह सब कुछ राजा के अभाव से हो जाता—इसमें सन्देह नहीं है।[5] संक्षेप में जिस राजा के अभाव से सारे जगत का अभाव हो जाता है और जिसकी स्थिति में सारे जगत की स्थिति है ऐसे राजा की पूजा कौन नहीं करेगा अर्थात् ऐसे राजा का महत्त्व एवं उसकी आवश्यकता कैसे भुलाई जा सकती है।[6]

इस प्रकार भीष्म ने राजा की आवश्यकता एवं उसका महत्त्व जगत के सुचारुरूप से स्थिर रहने और उसके विकास एवं सम्वर्द्धन के लिए अनिवार्य माना है। ऐसे राजा की अपेक्षा करना उनके मतानुसार बहुत बड़ी भूल मानी जाएगी।

राजा के महत्त्व एवं उसकी आवश्यकता पर जो मत भीष्म ने प्रकट किया है उसकी पुष्टि प्राचीन भारत के अन्य विद्वानों ने भी की है। वाल्मीकि ने रामायण में इस विषय में भीष्म के समान ही अपने विचार प्रकट किए हैं। उन्होंने इस विषय में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—राजा के बिना राज्य स्थिर

१—हरेयुर्बलवन्तोऽपि दुर्बलानां परिग्रहान्।
हन्युर्व्यायच्छमानांश्च यदि राजा न पालयेत॥ श्लोक १४ अ० ६८ शा० पर्व॥

२—ममेदमिति लोकेऽस्मिन्न भवेत्संपरिग्रहः।
न दारा न च पुत्रः स्यान्न धनं न परिग्रहः।
विष्वग्लोपः प्रवर्तेत यदि राजा न पालयेत्॥ श्लोक १५ अ० ६८ शा० पर्व॥

३—यानं वस्त्रमलङ्कारान् रत्नानि विविधानि च।
हरेयुः सहसा पापा यदि राजा न पालयेत्॥ श्लोक १६ अ० ६८ शा० पर्व॥

४—मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथिं गुरुम्।
क्लिश्नीयुरपि हिंस्युर्वा यदि राजा न पालयेत्॥ श्लोक १८ अ० ६८ शा० पर्व॥

५—वध बन्धपरिक्लेशो नित्यमर्थवतां भवेत्।
ममत्वं च न विन्देयुर्यदि राजा न पालयेत्॥ श्लोक १९ शा० ६८ शा० पर्व॥

६—यस्याभावेन भूतानामभावः स्यात्समन्ततः।
भावे च भावो नित्यं स्यात्कस्तं न प्रतिपूजयेत्॥ श्लोक ३७ अ० ६८ शा० पर्व॥

नहीं रह सकता।[१] राजा विहीन राज्य में अराजकता फैल जाती है। बिना जल की नदियां[२], बिना घास का वन और बिना गोपाल के गौओं की जो दशा होती है वही दशा राजा-हीन राज्य की हो जाती है।[३] ऐसे राष्ट्र में मनुष्य का कुछ भी अपना नहीं होता। मछलियों के समान मनुष्य एक दूसरे को खा जाते हैं।[४] वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा जिन्होंने तोड़ दी है और जिन्हें इसके लिए दण्ड दिया जाता था वह नास्तिक शंका-रहित प्रभावशाली हो जाते हैं।[५] जिस प्रकार रथ ध्वजा के द्वारा पहचाना जाता है, धूम से अग्नि का बोध होता है उसी प्रकार प्रजा का परिचय राजा के द्वारा होता है।[६] राजा-हीन देश में घोर गर्जन करने वाला विद्युन्माली नाम का मेघ पृथ्वी पर जल नहीं बरसाता। ऐसे देश में खेत बोए नहीं जा सकते।[७] पिता के अधीन पुत्र और पति के अधीन पत्नी नहीं रहती।[८] ऐसे देश में निर्णय के लिए मनुष्य सभा नहीं कर सकते।[९] देश को उन्नत करने वाले उत्सव तथा सभाएँ नहीं होती।[१०] यहां तक कि जितेन्द्रिय और व्रतधारी ब्राह्मण यज्ञ नहीं कर सकते। संक्षेप में राजा-हीन देश में अराजकता तथा विप्लव साक्षातरूप में अपना नग्न ताण्डव नाच दिखाने लगती है जिसके कारण वह देश मानव जीवन के लिए नितान्त अनुपयुक्त सिद्ध हो जाता है।

प्राणिमात्र के लिए राजा की आवश्यकता तथा उसके महत्त्व पर मनु भी भीष्म और बाल्मीकि के समान ही अपना मत प्रकट करते हुए कहते हैं—यदि

१—अराजकं हि नो राष्ट्रं × × × ।। श्लोक ८ सर्ग ६७ अयो० का० ।।

२—यथा ह्यनुदकानद्यो × × × ।। श्लोक २९ सर्ग ६७ अयो० का० ।।

३—वाप्य त्रणंवनम् × × × × ।
अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम् ।। श्लोक २९ सर्ग ६७ अ० का० ।।

४—नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित् ।
मत्स्या इव जना नित्यंभक्षयन्ति परस्परम् ।। श्लोक ३१ सर्ग ६७ अ० का० ।।

५—येहि सम्भिन्न मर्यादा नास्ति कश्छिन्न संशयाः ।
तेऽपिभावायकल्पन्ते राजदण्ड निपीडिताः ।। श्लोक ३२ सर्ग ६७ अ० का० ।।

६—ध्वजो रथस्य प्रज्ञानं धूमो ज्ञानं विभावसोः ।
तेषांयो नो ध्वजो राजा स देवत्व मितोगतः ।। श्लोक ३० सर्ग ६७ अ० का० ।।

७—नाराजके जनपदे विद्युन्माली महास्वनः ।
अभिवर्षति पर्जन्यो महीं दिव्येन वारिणा ।। श्लोक ९ सर्ग ६७ अ० का० ।।
नाराजके जनपदे बीज मुष्टिः प्रकीर्यते ।। श्लोक १० सर्ग ६७ अ० का० ।।

८—नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्त्तते वशे ।। श्लोक १० सर्ग ६७ अ० का० ।।

९—नाराजके जनपदे कारयन्ति सभां नराः ।। श्लोक १२ सर्ग ६७ अ० का० ।।

१०—नाराजके जनपदे × × × ।
उत्सवाश्च समाजाश्च वर्धतो राष्ट्र वर्धनाः ।। श्लोक १५ सर्ग ६७ अ० का० ।।

राजा अपराधियों को दण्ड न दे तो शूल पर मछली की भांति सबल लोग निर्बलों को भून डालें। राजा-हीन राज्य में सुख और शान्ति का सर्वथा लोप रहता है।[१]

महात्मा कौटिल्य भी इस विषय पर इस प्रकार विचार प्रकट करते हुए अपने अर्थशास्त्र में लिखते हैं—मात्स्यन्याय से पीड़ित होकर लोगों ने मनु को अपना राजा बनाया।[२] राजा प्रजा में शान्ति और रक्षा की व्यवस्था करता है। वही मनुष्यों को वर्णाश्रमधर्मपालन करने के लिए वाधित करता है।[३]

शुक्र ने भी इसी मत की पुष्टि की है। उनका मत है यदि प्रजा का समुचित नेता राजा न हो तो प्रजा इस प्रकार विपत्ति में मग्न हो जाती है जिस प्रकार बिना कर्णधार के समुद्र में नौका डूब जाती है।[४] प्रजापालक राजा के बिना प्रजा अपने कर्तव्य में स्थिर नहीं रह सकती। इस पृथ्वीतल पर बिना राजा के प्रजा की शोभा नहीं होती।[५]

बृहस्पति के मतानुसार राजा रहित देश में कृषि, वाणिज्य, लेन-देन, प्रजा रक्षण कार्य सम्पादित नहीं किए जा सकते। इसलिए ही वर्ण और आश्रमधर्म के सम्यक प्रकार पालन हेतु (लोगों का) नेता पहले ही निर्मित किया गया।[६] इस नेता के भय से ही लोग अपने-अपने धर्म के अनुसार आचरण करते रहते हैं।[७]

इस प्रकार लगभग समस्त मुख्य प्राचीन भारतीय राजनीतिज्ञ राजा की आवश्यकता एवं उसके महत्त्व पर दो मत नहीं रखते। वह मुक्त कण्ठ से राजा की आवश्कता एवं उसके महत्व के सिद्धान्त की सराहना करते हुए भीष्म के स्वर में स्वर मिलाते हुए पाए जाते हैं।

राजा का स्वरूप—भीष्म ने जहाँ राजा की आवश्यकता और उसके महत्त्व के विषय में अपना मत प्रकट किया है वहीं उन्होंने राजा के स्वरूप पर भी कुछ प्रकाश डाला है। भीष्म के मतानुसार राजा का स्वरूप क्या है इस विषय का बोध कराने के लिए महाभारत के शान्ति पर्व में दो उपाख्यान दिए गए हैं जिनका सम्बन्ध

१—यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः।
शूले मत्स्यानिवाभक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥ श्लोक २० अ० ७ मानव धर्मशास्त्र ॥

२—मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं प्रजानां चक्रिरे ॥
वार्ता ६ अधि० १ अ० १३ अर्थशास्त्र ॥

३—राजानः प्रजानां योगक्षेमवहाः ॥ वार्ता ८ अ० १३ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ् नेता ततः प्रजाः।
अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव ॥ श्लोक ६५ अ० १ शुक्रनीति ॥

५—नातिष्ठन्ति स्वधर्मे विना पालेन वै प्रजाः ॥ श्लोक ६६ अ० १ शुक्रनीति ॥

६—नाराजके कृषिवणिक् कुसीद परिपालनम्।
तस्माद्वर्णाश्रमाणां तु नेतासौ निर्मितः पुरा ॥ श्लोक ८, ९ का० १ बृहस्पति स्मृति ॥

७—भयाल्लोकाय कल्पन्ते स्वधर्मांश्च चलन्ति च ॥ श्लोक ८९ का० १ बृहस्पतिस्मृति ॥

राजा की उत्पत्ति से है। इन दोनों उपाख्यानों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने पर भीष्म द्वारा प्रतिपादित राजा के स्वरूप का बोध हो जाता है।

भीष्म के मतानुसार मनु और पृथु दो प्राचीनतम आदर्श राजा हुए हैं। इन दोनों राजाओं की उत्पत्ति सम्बन्धी प्रसंग में यह स्पष्ट वर्णन मिलता है कि इन की उत्पत्ति के पूर्व मनुष्य सामाजिक जीवन की अवस्था में रह चुका था। उसने अपने सुख और शान्तिमय जीवन को स्थायी बनाने के लिए इस प्रकार के सामाजिक जीवन के संघठन को स्थायी रखना उचित समझा था और उसने इस प्रकार के सुख और शान्तिमय जीवन को स्थायी रूप देने के लिए सदाचरण सम्बन्धी कतिपय नियमों का निर्माण कर लिया था। अथवा उसने मनुष्य जीवन को सुख और शान्तिमय व्यतीत होने के लिए किसी प्रकार जगत-सृष्टा ब्रह्मदेव को प्रसन्न कर उनसे उसके जीवन निर्वाह सम्बन्धी विविध प्रकार के नियमों का संग्रह प्राप्त कर लिया था और जो जगत में दण्डनीतिशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। परन्तु उनके सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह था कि इन नियमों के अनुसार मनुष्यों को आचरण धारण करने के लिए किस प्रकार विवश किया जाना चाहिए क्योंकि मनुष्य में सुर और असुर दोनों वृत्तियां रहती हैं। जब उस पर सुर वृत्तियों का आधिपत्य होता है तो वह सदाचरण की ओर अग्रसर होता है। परन्तु ज्यों ही उस पर असुर वृत्तियों का शासन होने लगता है, वह पापाचरण के पथ पर आरूढ़ होने लगता है। इसलिए मनुष्य-समाज में हर समय कुछ-न-कुछ लोग ऐसे अवश्य होते हैं जो सदाचरण सम्बन्धी इन नियमों को भंग करने के लिए प्रयत्नशील रहेंगे। भीष्म के मतानुसार इस प्रकार मनुष्यों के दमन हेतु दण्ड का निर्माण हुआ। प्रजा की शान्ति और सुव्यवस्था के लिये दण्ड की कितनी महान आवश्यकता मानी गयी है। इस विषय में भीष्म अपना मत प्रकट करते हुए राजा युधिष्ठिर से कहते हैं—सम्पूर्ण जगत दण्ड के ही आश्रित टिका हुआ है।[१] दण्ड के लोप हो जाने से लोक में सुव्यवस्था का भी लोप हो जाता है।[२] सुप्रणीत दण्ड में धर्म, अर्थ, काम यह तीनों सदैव विद्यमान रहते हैं।[३] दण्ड का आन्तरिक रूप दुष्टों को सन्तापित करने वाला है, इसी से क्रूरता के कारण अग्नि की समानता धारण करता है।[४] दण्ड का बाह्य रूप नीलोत्पल दल के समान श्याम वर्ण है। उसका स्वरूप चतुर्दंष्ट्र और चतुर्भुज, अष्टपाद, अनेक नेत्रवाला (अनेकनयनः), शंकुकर्ण (तीक्ष्ण श्रवण वाला), ऊर्ध्वरोमवान् है।[५] वह जटी और दो जिह्वा वाला है। वह ताम्रास्य और

१—यस्मिन्हि सर्वमायत्तं स दण्ड इह केवलः ॥ श्लोक ८ अ० १२१ शा० पर्व ॥

२—तस्य लोपः कथं न स्याल्लोकेऽव्यवहितात्मनः ॥ श्लोक ९ अ० १२१ शा० पर्व ॥

३—दण्डे त्रिवर्गः सततं सुप्रणीते प्रवर्तते ॥ श्लोक १४ अ० १२१ शा० पर्व ॥

४—दैवं हि परमो दण्डो रूपतोऽग्निरिवोत्थितः ॥ श्लोक १४ अ० १२१ शा० पर्व ॥

५—नीलोत्पलदलश्यामश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः ।
अष्टपान्नैकनयनः शंकुकर्णोर्ध्वरोमवान् ॥ श्लोक १५ अ० १२१ शा० पर्व ॥

मृगराजतनुच्छद कहलाता है। दुर्धर्ष दण्ड सदा यह प्रचण्ड रूप धारण किया करता है।[1] दण्ड ही भगवान विष्णु और दण्ड ही प्रभु नारायण है। वह सदैव महद्रूप धारण किया करता है इसी निमित्त महत्पुरुष के नाम से पुकारा जाता है।[2] इस प्रकार अनेक रूप से दण्ड की महिमा का गान भीष्म ने किया है। लोक में यदि दण्ड न रहे तो लोग परस्पर प्रमथित करते रहें। दण्ड के भय से ही लोग परस्पर प्रहार नहीं करते। दण्ड के द्वारा रक्षित प्रजा सदैव राजा का वर्द्धन करती है इसलिए दण्ड ही परम आश्रय है।[3]

दण्ड की महिमा का गान करते हुए मनु ने भी मानवधर्मशास्त्र में इस प्रकार अपना मत प्रकट किया है—राजा के लिए प्राणि मात्र की रक्षा के निमित्त ब्रह्मतेज से परिपूर्ण उस दण्ड को ईश्वर ने पूर्व में ही रचना की।[4] दण्ड के भय से ही सम्पूर्ण स्थावर और जंगम भोग को प्राप्त होते हैं और अपने धर्म से विचलित नहीं होने पाते।[5] देश, काल, शक्ति और विद्या के तत्व को शास्त्रानुसार विचार कर अपराधी मनुष्य को यथायोग्य दण्ड देना चाहिए।[6] दण्ड ही राजा है, वही पुरुष है और वही नेता तथा शासिता और चारों आश्रमों के कर्म का प्रतिभू है।[7] दण्ड सम्पूर्ण प्रजा का शासन करता है। दण्ड समस्त प्रजा की रक्षा करता है। सबके सो जाने पर दण्ड ही जागता है। विद्वान लोग दण्ड को धर्म कहते हैं।[8] समस्त प्राणि दण्ड से नियमन किए हुए ही सन्मार्ग में चलते हैं क्योंकि शुचि मनुष्य दुर्लभ हैं। सम्पूर्ण जगत दंड के भय

१—जटीद्विजिह्वस्ताम्रास्योमृगराजतनुच्छदः ।
एतद्रूपं बिभर्त्युग्रं दण्डो नित्यं दुराधरः ॥ श्लोक १६ अ० १२१ शा० पर्व ॥

२—दण्डो हि भगवान्विष्णुर्दण्डो नारायणः प्रभुः ।
शश्वद्रूपं महद्बिभ्रन्महान्पुरुष उच्यते ॥ श्लोक २३ अ० १२ शा० पर्व ॥

३—न स्याद्यदीह दण्डौ वै प्रमथेयुः परस्परम् ।
भयाद्दण्डस्य नान्योन्यं घ्नन्ति चैव युधिष्ठिर ॥ श्लोक ३४ अ० १२१ शा० पर्व ॥

४—तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्मात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयंदण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ श्लोक १४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

५—तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्व धर्मान्न चलन्ति च ॥ श्लोक १५ अ० ७ मानवधर्मशा० ॥

६—तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ।
यथार्हतः स प्रणयेन्नरेष्व न्यायवर्तिषु ॥ श्लोक १६ अ० ७ मानवधर्मशा० ॥

७—स राजा पुरुषोदण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥ श्लोक १७ अ० ७ मानवधर्मशा० ॥

८—दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ श्लोक १८ अ० ७ मानवधर्मशा० ॥

से ही भोग कर सकता है।[1] देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी, सर्प, यह भी दण्ड से ही नियंत्रित किए गए भोग को प्राप्त करते हैं।[2] दण्ड के बिना सम्पूर्ण वर्ण दुष्टाचरण में प्रवृत्त हो जाएँ और सब वर्ण-मर्यादा विनष्ट हो जाएं और सम्पूर्ण जनता में उपद्रव हो जाए।[3] जिस देश में श्याम वर्ण और लाल आँखवाला पाप का नाशक दण्ड विचरता है, वहाँ प्रजा मोहित नहीं होती और नेता (राजा) वहाँ साधु दृष्टि से देखता रहता है।[4]

जहाँ भीष्म ने दण्ड की महिमा की इतनी व्याख्या की ह, वहीं यह भी व्यवस्था दी है कि दण्ड का प्रयोग बड़ी सावधानी से किया जाना चाहिए। दण्ड के समुचित मात्रा में प्रयोग किए जाने पर ही राज्य में शान्ति चिरस्थायी हो सकती है। भीष्म का मत है कि उग्र दण्ड अथवा न्यून दण्ड के प्रयोग से मानव-समाज में असंतोष एवं अराजकता फैलती है।[5] इसलिए इस बात की परम आवश्यकता अनुभव की गयी कि मानव-समाज में एक व्यक्ति ऐसा अवश्य होना चाहिए जो मनुष्यों के द्वारा सर्वसम्मति के आधार पर निर्माण किए गए सदाचरण सम्बन्धी नियमों अथवा ब्रह्मदेव द्वारा प्रणीत दण्डनीति शास्त्र में वर्णित नियमों का लोगों को सम्यक प्रकार से पालन करने के लिए विवश करता और उन लोगों को जो कि इन नियमों को भंग करते हुए पाए जाते समुचित दण्ड देता। बस, यही व्यक्ति राजा कहलाया क्योंकि, यह व्यक्ति सम्पूर्ण जगत को प्रसन्न (रञ्जन) करने वाला माना गया था।

इस प्रकार भीष्म ने लोक-कल्याण के निमित्त जिस पद (राजपद) की स्थापना करने का प्रतिपादन किया है, राज्य में उसका पद सर्वोच्च नहीं है। उसका पद राज्य में द्वितीय माना गया है। राज्य में सर्वोच्च पद विधि (Law) का है। राजा का कर्त्तव्य राज्य के विधियों का राज्य की समस्त प्रजा में समुचित रूप में लागू करना है। इस सिद्धान्त के आधार पर भीष्म द्वारा प्रतिपादित राजा राज्य में वैध रूप में केवल कार्यपालिका (executive) का स्थान ग्रहण करता है। वह राज्य में प्रजा के निमित्त विधि-निर्माण कार्य सम्पादन नहीं कर सकता और न वह

१—सर्वो दण्डजितोलोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥ श्लोक २२ अ० ७ मानवधर्मशा० ॥

२—देवदानवगन्धर्वारक्षांसिपतगोरगाः ।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥ श्लोक २३ अ० ७ मानवधर्म० ॥

३—दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्व सेतवः।
सर्वलोक प्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥ श्लोक २४ अ० ७ मानवधर्मशा० ॥

४—यत्र श्यामोलोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥ श्लोक २५ अ० ७ मानवधर्मशा० ॥

५—मृदुर्हि राजा सततं लङ्घ्यो भवति सर्वशः।
तीक्ष्णाच्चोद्विजतेलोकस्तस्मादुभयमाश्रय ॥ श्लोक २१ अ० ५६ शा पर्व० ॥

राज्य के विधियों की व्याख्या करने का ही वैध रूप से अधिकारी है।[1] अतः राजा का स्वरूप एकमात्र कार्यपालिका का स्वरूप रह जाता है।

इसलिए इस बात की परम आवश्यकता अनुभव की गयी थी कि कुछ ऐसे नियमों एवं प्रतिबन्धों का भी निर्माण होना चाहिए जिनके अधीन रह कर राजा को अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिए। उसको कभी भी उच्छृङ्खल न होना चाहिए।[2] यही नियम और प्रतिबन्ध राजधर्म के नाम से विख्यात हुए। इस प्रकार भीष्म द्वारा प्रतिपादित राजा को इसी राजधर्म के अधीन रह कर प्रजा-रञ्जन का कार्य सम्पादन करना चाहिए। भीष्म के मतानुसार इस राजधर्म अथवा राजा के कर्त्तव्य क्षेत्र की रूपरेखा पर यहाँ प्रकाश डाला जाएगा।

(क) आदर्श चरित्र की प्राप्ति—राजा का सर्व प्रथम कर्त्तव्य, भीष्म ने आत्मविजय बतलाया है। राज्य एक महान भार है। इस भार के वहन करने में अयोग्य पुरुष समर्थ नहीं हो सकता। जो कार्य कठिन परिश्रम साध्य है उस कार्य को कोमल मनुष्य किस प्रकार पूर्ण कर सकता है।[3] भीष्म ने राज्य-भार की गुरुता को इन शब्दों में व्यक्त किया है और यह बतलाया है कि इस महान भार के वहन हेतु सदाचरण सम्बन्धी विशेष गुणों की आवश्यकता होगी। बाल्मीकि भी भीष्म के इस मत की पुष्टि करते हुए कहते हैं—लोकपालन कार्य अत्यन्त गुरु होता है। जो अजितेन्द्रिय हैं उनसे इस गुरु भार का वहन नहीं हो सकता।[4] कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में राजा के लिए आत्म-विजय अनिवार्य बतलाते हुए कहते हैं—राजा को आत्मविजय के लिए अत्यन्त प्रयत्नशील होना चाहिए।[5]

आत्मविजय राजा के लिए प्राचीन भारत में अनिवार्य मानी गयी है। इसका प्रधान कारण यह था कि उस युग में राजा प्रजा के लिए इस संसार में आदर्श पुरुष माना जाता था। उसका आचरण सर्वसाधारण के लिए अनुकरणीय माना जाता था और वह उनके लिए आदर्श चरित्र बन जाता था।[6] राजा के सहयोग के बिना जीवन के परम उद्देश्य, मोक्ष, की प्राप्ति असम्भव मानी गयी है। उनके जीवन के प्रत्येक

१—दश वा वेदशास्त्रज्ञास्त्रयो वा धर्मपाठकाः।
यद्ब्रूयुः कार्य उत्पन्ने सधर्मो धर्मसंशये ॥ श्लोक २० अ० ३६ शा० पर्व ॥

२—यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो दण्डनीति व्यपाश्रयः।
तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥ श्लोक १०७ अ० ५९ शा० पर्व ॥

३—राज्यं हि सुमहत्तन्त्रं धार्यते नाकृतात्मभिः।
न शक्यं मृदुना वोढुमायासस्थानमुत्तमम् ॥ श्लोक २१ अ० ५८ शा० पर्व ॥

४—राजप्रभावजुष्टां च दुर्वहामजितेन्द्रियैः। श्लोक ९ सर्ग २ अयोध्याकाण्ड ॥

५—तस्मादरिषड्वर्ग त्यागेनेन्द्रियजयं कुर्वीत ॥ वार्ता १ अ० ७ अधि० १ अर्थ० ॥

६—यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः ॥ श्लोक ९ सर्ग १०९ अ० का० ॥
यद्वृत्तमुपजीवन्ति प्रकृतिस्थस्य मानवाः ॥ श्लोक ३ अ० ९३ शा० पर्व ॥

क्षेत्र में राजा के आचरण से ही प्रेरणा मिलती थी। राज्य में राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि योजनाओं के दैनिक क्रियाचक्र में राजा का प्रमुख स्थान रहता था। इन्हीं कारणों से राजा के चरित्र में कहीं भी प्रजा को उंगली उठाने का अवसर नहीं मिलना चाहिए। इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए भीष्म राजा युधिष्ठिर को तत्सम्बन्धी उपदेश देते हुए कहते हैं--राजा को सर्व प्रथम आत्मविजय करनी चाहिए। जिस राजा ने आत्मविजय नहीं की वह अपने शत्रुओं पर क्योंकर विजय प्राप्त कर सकता है।[१] आत्मविजय पंचज्ञानेन्द्रियों के ही विजय को कहते हैं। जो राजा जितेन्द्रिय होता है वही शत्रुओं के विजय करने में समर्थ हो सकता है।[२] भीष्म राजा के लिए सबसे बड़ा धन सदाचार मानते हैं।[३] राजा को ऐसा आचरण धारण करना चाहिए जो प्रजा के लिए आदर्श हो क्योंकि प्रजा राजा का अनुकरण करती है।[४] कामात्मा, शठ बुद्धिवाला, क्रूर और लोभी राजा प्रजा पालन कार्य में समर्थ नहीं हो सकता।[५] राजा को सत्यवादी होना चाहिए। भीष्म सत्यवादिता के महत्त्व को प्रकट करते हुए कहते हैं--सत्य के अतिरिक्त राजा की सिद्धि का अन्य कोई कारण नहीं है। जो सत्य परायण होता है वह इस लोक और परलोक दोनों में आनन्द का भोग करता है।[६] ऋषि वर्ग का भी सत्य ही परम धर्म माना गया है। सत्य के अतिरिक्त अन्य वस्तु से राजा के लिए विश्वास का कारण नहीं होता।[७] शूर, वीर, सदाचारी, उदार, कोमल प्रकृति, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, प्रसन्न और अत्यन्त दानी राजा को राज्य-लक्ष्मी से कभी च्युत होना नहीं पड़ता है।[८] राजा को सारे कर्मों में नम्रभाव का आश्रय लेना चाहिए, फिर नीतिपूर्वक विचार करना उचित है। शत्रु के छिद्र

१— आत्मा ज्ञेयः सदा राज्ञा ततो जेयाश्च शत्रवः।
अजितात्मा नरपतिर्विजयेतकथं रिपून्॥ श्लोक ४ अ० ६९ शा० पर्व॥

२—एतावानात्मविजयः पञ्चवर्गविनिग्रहः।
जितेन्द्रियो नरपतिर्बाधितुं शक्नुयादरीन्॥ श्लोक ५ अ० ६९ शा० पर्व॥

३—शुद्धाचारस्तथैव च ॥ श्लोक २२ अ० ५७ शा० पर्व॥

४—राज्ञाहि पूजितो धर्मस्ततः सर्वत्र पूज्यते।
यद्यदाचरते राजा तत्प्रजानां हि रोचते॥ श्लोक ४ अ० ७५ शा० पर्व॥

५—न हि कामात्मना राज्ञा सततं शठबुद्धिना।
नृशंसेनाति लुब्धेन शक्याः पालयितुं प्रजाः॥ श्लोक १४ अ० ७५ शा० पर्व॥

६—नहि सत्यादृते किञ्चद्राज्ञां वै सिद्धिकारकम्।
सत्येहि राजा निरतः प्रेत्य चेह च नन्दति॥ श्लोक १७ अ० ५६ शा० पर्व॥

७—ऋषीणामपि राजेन्द्र परं धनम्।
तथा राज्ञां परं सत्यान्नान्यद्विश्वासकारणम्॥ श्लोक १८ अ० ५६ शा० पर्व॥

८— गुणवान्शीलवान्दान्तो मृदुर्धर्म्यो जितेन्द्रियः।
सुदर्शः स्थूललक्ष्यश्च च न भ्रश्येत सदाश्रियः॥ श्लोक १९ अ० ५६ शा० पर्व॥

खोजना, अपने छिद्रों का गोपन करना और मंत्रगोपन इस त्रयी की सर्वदा रक्षा करते रहना चाहिए ।[१] राजा को विपत्ति में सन्ताप नहीं करना चाहिए ।[२] राजा को निरन्तर क्षमाशील भी नहीं होना चाहिए । जो राजा नितान्त क्षमाशील हो जाता है वह क्षमाशील हाथी की भाँति निरादर का पात्र हो जाता है ।[३] जो राजा क्षमा ही करता रहता है नीच मनुष्य उसकी अवज्ञा करते रहते हैं । क्षमाशील हाथी के शीश पर महावत चढ़ बैठता है ।[४] इन सब बातों को सोच कर राजा का व्यवहार न तो मृदु ही हो और न कठोर । राजा को बसन्त ऋतु के सूर्य के समान होना चाहिए जो न तो ग्रीष्म कालिक सूर्य के समान अति उष्ण ही होता है और न शीत कालिक सूर्य की भाँति उष्णता रहित ही होता है ।[५]

इस प्रकार राजा का सर्वप्रथम कर्त्तव्य राजोचित आचरण को प्राप्त करना है ।

(ख) लोकरञ्जन-कार्य---जब राजा राजपद के योग्य आचरण सम्बन्धी विशेष गुणों की प्राप्ति कर लेता है तब उस को लोकरञ्जन-कार्य में संलग्न हो जाना चाहिए । वास्तव में लोकरञ्जन-कार्य मात्र का सम्पादन राजा का सनातन धर्म माना गया है ।[६] जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री अपने मन को प्रिय लगने वाली वस्तु का परित्याग कर गर्भस्थ शिशु के कल्याण में निरन्तर संलग्न रहती है इसी प्रकार राजा को भी सर्वदा अपने हितकारी कार्यों का परित्याग कर लोकरञ्जन-कार्य में निरन्तर संलग्न रहना चाहिए ।[७] इस लोकरञ्जन कार्य का सम्पादन अनेक साधनों से होता है और उसके अनेक रूप हे जिनका वर्णन भीष्म ने राजा युधिष्ठिर के समक्ष संक्षेप रूप में किया है । लोकरञ्जन-कार्य के कतिपय रूपों का वर्णन, जैसा कि भीष्म ने महाभारत के शान्ति पर्व में राजा युधिष्ठिर के समक्ष किया है, यहाँ पर किया जाएगा ।

१--आर्जवं सर्वकार्येषु श्रयेथाः कुरुनन्दन ।
पुनर्नयविचारेण त्रयीसंवर्णेन च ।। श्लोक २० अ० ५६ शा० पर्व ।।

२---विपन्ने न समरारम्भे सन्तापं मा स्म वै कृथाः ।। श्लोक १६ अ० ५६ शा० पर्व ।।

३---न च क्षान्तेन ते नित्यं भाव्यं पुत्र समन्ततः ।
अधर्मो हि मृदु राजा क्षमावानिवकुञ्जरः ।। श्लोक ३७ अ० ५६ शा० पर्व ।।

४---क्षममाणं नृपं नित्यं नीचः परिभवेज्जनः ।
हस्तियन्तागजस्येव शिर एवारुरुक्षति ।। श्लोक ३९ अ० ५६ शा० पर्व ।।

५---तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णो नैव भवेन्नृपः ।
वासन्तार्क इव श्रीमान्न शीतो न च घर्मदः ।। श्लोक ४० अ० ५६ शा० पर्व ।।

६---लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः ।। श्लोक ११ अ० ५७ शा० पर्व ।।

७---यथाहि गर्भिणी हित्वा स्वयं प्रियं मनसोऽनुगम् ।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम् ।। श्लोक ४५ अ० ५६ शा० पर्व ।।

(१) वर्णाश्रमधर्म की रक्षा—प्राचीन भारतीय ऋषि-मुनियों ने मनुष्य-जीवन को सुख और शान्ति पूर्वक व्यतीत करने के लिए एक योजना का निर्माण किया था और जिस योजना को उन्होंने शाश्वत (eternal) माना है। इस योजना का उद्देश्य मनुष्य समाज के प्रत्येक व्यक्ति का एवं उस की समाज का अत्यान्तिक विकास एवं उत्थान था। मनुष्य-जीवन की इस योजना को वर्णाश्रमधर्म अथवा वर्णाश्रमव्यवस्था के नाम से सम्बोधित किया गया है। इस व्यवस्था को अक्षुण्य रूप में स्थिर रखना राजा का परम कर्त्तव्य माना गया है। राज्य में व्यक्ति वा व्यक्ति-समूहों के निर्धारित जो-जो विशेष कर्त्तव्य अथवा आचरण इस योजना के अनुसार निर्धारित किए गए थे उनको उनका पालन उसी विधि से करना चाहिए। इस व्यवस्था में स्तव्यस्तता का होना वर्णसंकर तथा धर्मसंकर कहलाता था। वर्णसंकर एवं धर्मसंकर का रोकना राजा का परम धर्म माना गया है।[1]

वर्णाश्रमधर्म की रक्षा करना राजा का प्रधान कर्तव्य था इस विषय में कौटिल्य ने भी व्यवस्था दी है। इस विषय पर वह अर्थशास्त्र में इस प्रकार लिखते हैं—अपने अपने धर्म (कर्तव्यों) का पालन स्वर्ग और मोक्ष के लिए होता है।[2] यदि कर्मों का लोप किया गया तो वर्णसंकरता होकर संसार में उथल-पुथल मच जाएगी।[3] प्रत्येक मनुष्य को अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। इसलिये राजा को चाहिए कि वह अपने राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्तव्य पालन के लिए पूर्ण स्वतंत्रता की व्यवस्था स्थापित करे। राजा को अपने राज्य में वर्णसंकरता कभी भी न होने देना चाहिए। जो मनुष्य अपने कर्तव्यों का पालन करता रहता है वह इस लोक और परलोक दोनों में सुख का भोग करता है।[4] राजा द्वारा जब वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा की स्थापना कर दी जाती है तो इस प्रकार सुरक्षित होकर जगत प्रसन्न रहता हैं, कभी पीड़ित नहीं होता।[5] दण्ड द्वारा राजा मे सुरक्षित हुए चारों वर्ण और आश्रम अपने-अपने धर्म और कर्म में संलग्न रहते हैं और अपने कर्तव्य पथ पर चलते रहते हैं।[6]

१—चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता।
धर्मसंकररक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः॥ श्लोक १५ अ० ५७ शा० पर्व॥

२—स्वधर्मः स्वर्गायानन्त्याय च॥
वार्ता १४ अ० ३ अधि० १ अर्थशास्त्र॥

३—तस्यातिक्रमे लोकः संकरादुच्छिद्येत॥
वार्ता १५ अ० ३ अधि० १ अर्थशास्त्र॥

४—तस्मात्स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।
स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति॥ श्लोक १६ अ० ३ अधि० १ अर्थशा०॥

५—व्यवस्थार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितोलोकः प्रसीदति नसीदति॥
वार्ता १७ अ० ३ अधि० १ अर्थशास्त्र॥

६—चातुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालितः।
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु॥ वार्ता १९ अ० ४ अधि० १ अर्थशास्त्र॥

मनु ने भी राजा के लिए यह एक महान कर्तव्य निर्धारित किया है कि उसको अपने राज्य में वर्णाश्रमधर्म की व्यवस्था को विधिवत स्थापित करनी चाहिए। उन्होंने राजा को वर्णाश्रमधर्म का रक्षक माना है। इस विषय में उन्होंने मानवधर्म-शास्त्र में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—अपने-अपने धर्म में चलने वाले आनुपूर्व से सब वर्णों और आश्रमों की रक्षा करने वाले राजा का निर्माण (ईश्वर ने) किया।[1]

प्राचीन भारत में वर्ण-संकरता महान पाप समझा जाता था। इसलिए उस युग के लगभग प्रत्येक राजनीति विचारक ने इस विषय पर बड़ा महत्त्व दिया है कि किसी राज्य में यदि वर्ण-संकरता होने की सम्भावना हो तो राजा को तुरन्त सचेत एवं सचेष्ट होकर उसके निरोध के निमित्त कटिबद्ध हो जाना चाहिए। इस प्रकार भीष्म ने राजा का जो यह एक प्रधान कर्तव्य माना है कि उसको वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करनी चाहिए प्राचीन भारत में सर्वमान्य कर्तव्य माना गया है।

(२) रक्षा—वर्णाश्रमधर्म की समुचित व्यवस्था की स्थापना तब तक नहीं हो सकती जब तक कि राज्य में वाह्य एवं आन्तरिक विघ्नबाधाओं का भय बना रहेगा। इसलिए भीष्म ने राजा को अपने राज्य में प्राणिमात्र की रक्षा करना उसका परम कर्तव्य बतलाया है।[2] जो राजा अपने राज्य पर दीर्घकाल तक शासन करने की इच्छा रखता है उसके लिए प्रजा की वास्तविक रक्षा के अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं है; क्योंकि प्रजा की रक्षा ही प्रजा को प्रसन्न करने का मूल कारण है।[3] आन्तरिक एवं वाह्य आपत्तियों से प्रजा को निर्भय रखना राजा का प्रधान कर्तव्य माना गया है। इसीलिए भीष्म उस राजा को सर्वश्रेष्ठ राजा मानते हैं जिसके राज्य में समस्त जन (मानवाः) निर्भय होकर इस प्रकार विचरण करते हैं जैसे पुत्र अपने पिता के घर में निर्भयतापूर्वक विचरते हैं।[4] अपने राज्य की प्रजा के रक्षण सम्बन्धी राजा के कर्तव्य की ओर संकेत करते हुए भीष्म राजा युधिष्ठिर से इस प्रकार कहते हैं—जब कि प्राणिमात्र की रक्षा करना ही परमधर्म और परम दया बतलाया गया है तो राजा को अपनी समस्त प्रजा की रक्षा करनी चाहिए यही उसका सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य (धर्म) है।[5] कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य से इस लोक में प्राणियों की,

---

१—स्वे स्वे धर्मेविनिष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता॥ श्लो० ३५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२—रक्षणं सर्वभूतानामिति क्षात्रं परम् मतम्॥ श्लोक ३ अ० १२० शा० पर्व॥

३—तद्राज्ये राज्यकामानां नान्यो धर्मः सनातनः।
ऋते रक्षां तु [illegible] लोकस्य धारिणी॥ श्लोक ४२ अ० ५७ शा० पर्व॥

४—पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः॥ श्लोक ३३ अ० ५७ शा० पर्व॥

५—एव एव परो धर्मो यद्राजा रक्षति प्रजाः।
भूतानां हि यदा धर्मो रक्षणं परमादया॥ श्लोक २६ अ० ७१ शा० पर्व॥

जीविका चलती है, और त्रयी विद्या से प्राणियों को ऊर्ध्व गति प्राप्त होती है इसीलिए इस संसार में जो परिपंथी उसका विरोध करते हैं उनके नाश के निमित्त ब्रह्मा ने क्षात्र का सृजन किया।[१] इसलिए हे कुरुनन्दन! शत्रुओं को विजय कीजिए, प्रजा पालन, अनेक दक्षिणा वाले यज्ञ और युद्ध कीजिए।[२] जो प्रतिपालन योग्य प्राणियों का सदैव परिपालन करता है वह राजा सत्तम है और जो राजा उनकी रक्षा नहीं करते उनसे कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। लोक-रक्षा हेतु राजा को सदैव युद्ध करते रहना चाहिए।[३] राजा जो प्राणियों पर दया करके उनकी रक्षा में नित्य उद्यत रहता है धर्म जानने वाले पण्डित लोग राजा का परम धर्म कहा करते हैं।[४] जो राजा, भय के कारण प्रजा की रक्षा न करता हुआ एक दिन में पाप सञ्चय करता है, उसका भोग सहस्रों वर्षों तक भोगने पर भी बड़ी कठिनाई से पूर्ण हो पाता है।[५] परन्तु जो राजा धर्मपूर्वक प्रजा पालन करने से एक दिन में धर्म का सञ्चय करता है अर्थात् प्रजा पालन से जो एक दिन में धर्म की प्राप्ति होती है उसका फल राजा स्वर्ग में दस सहस्र वर्ष तक भोगता रहता है।[६] उत्तम प्रकार से यज्ञ करने वाला, विधिवत वेदाध्ययन करने वाला और उत्तम तपस्वी मनुष्य जिन उत्तम लोकों की प्राप्ति करता है उन लोकों को धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करने वाला राजा क्षण भर में प्राप्त कर लेता है।[७] हे कौन्तेय! इस प्रकार समझ कर तुमको धर्म के साथ प्रयत्न पूर्वक प्रजा की

१—कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं लोकानामिह जीवनम्।
ऊर्ध्वं चैव त्रयी विद्या साभूतान्भावयत्युत ॥ श्लोक ७ अ० ८९ शा० पर्व ॥
तस्यां प्रपतमानायां ये स्युस्तत्परिपंथिनः।
दस्यवस्तद्वधायेह ब्रह्मा क्षत्रमथासृजत् ॥ श्लोक ८ श० ८९ शा० पर्व ॥

२—शत्रून् जय प्रजा रक्ष यजस्व क्रतुभिर्नृप।
युध्यस्व समरे वीरो भूत्वा कौरवनन्दन ॥ श्लोक ९ अ० ८९ शा० पर्व ॥

३—संरक्ष्यान्पालयेद्राजा स राजा राजसत्तमः।
ये केचित्तान्न रक्षन्ति तैरर्थो नास्ति कश्चन ॥ श्लोक १० अ० ८९ शा० पर्व ॥
सदैव राजा योद्धव्यं सर्वलोकाद्युधिष्ठिर ॥ श्लोक ११ अ० ८९ शा० पर्व ॥

४—तस्मादेवं परं धर्मं मन्यन्ते धर्मकोविदाः।
यो राजा रक्षणे युक्तो भूतेषु कुरुते दयाम् ॥ श्लोक २७ अ० ७१ शा० पर्व ॥

५—यदह्ना कुरुते पापमरक्षन्भयतः प्रजाः।
राजा वर्षसहस्रेण तस्यान्तमधिगच्छति ॥ श्लोक २८ अ० ७१ शा० पर्व ॥

६—यदह्ना कुरुते धर्मं प्रजा धर्मेण पालयन।
दशवर्ष सहस्राणि तस्यभुंक्ते फलं दिवि ॥ श्लोक २९ अ० ७१ शा० पर्व ॥

७—स्वष्टिः स्वधीतिः सुतपा लोकान् जयति यावतः।
क्षणेन तानवाप्नोति प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ श्लोक ३० अ० ७१ शा० पर्व ॥

रक्षा करनी चाहिए। इस कार्य के करने से तुमको बड़े पुण्य की प्राप्ति होगी।[1] भीष्म दूसरे प्रसंग में इसी विषय में इस प्रकार कहते हुए अपना मत प्रकट करते हैं—राजा के प्रजा-पालन से विमुख होते ही सारे अन्याय टूट पड़ते हैं, वर्ण-संकरता फैल जाती है और सारे राष्ट्र पर दुर्भिक्ष का प्रकोप होने लगता है।[2] भीष्म के मतानुसार राष्ट्र का योग-क्षेम राजा के अधीन होता है।[3] राजा को यमराज की भाँति शत्रुओं के विरुद्ध सदैव दण्ड ग्रहण करके सन्नद्ध रहना चाहिए और हर प्रकार से दस्युओं का नाश करना चाहिए।[4] जिस राज्य में पुरोहित ब्रह्मतेज से प्रजा के अदृष्ट और राजा बाहुबल से दृष्ट भय निवारण करता है उसी राज्य में सुख की प्राप्ति होती है।[5] हे भरत नन्दन! यदि राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता है तो राज्य में जो कुछ अधर्म उपस्थित हो जाता है राजा उस पाप में भी चतुर्थांश का भागी होता है। राज्य में दुष्ट और मिथ्यावादी पुरुष जो भी पाप-कर्म करते हैं राजा अवश्य ही उसके चतुर्थांश का भागी होता है।[6] जो राजा प्रजा-रक्षण सम्बन्धी अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है उसकी निन्दा करते हुए भीष्म राजा युधिष्ठिर से इस प्रकार कहते हैं—हे कौरव! जो बैल भारवहन में असमर्थ, जो गौ दुग्ध नहीं देती है, जो स्त्री सन्तान-उत्पत्ति कार्य में असमर्थ होती है और इसी प्रकार जो राजा प्रजा-पालन कार्य में असमर्थ होता है उससे कोई अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता।[7] हे पार्थ! जैसे काठ का हाथी, चमड़े का मृग, षण्ड पुरुष और ऊसर क्षेत्र निष्फल है उसी प्रकार जो ब्राह्मण वेद नहीं पढ़ता, जो राजा प्रजा-पालन नहीं करता और जो बादल वर्षा नहीं करते, वह भी उसी भाँति निष्फल समझने चाहिए।[8] जो पुरुष

१—एवं धर्मं प्रयत्नेन कौन्तेय परिपालय।
ततः पुण्यफलं लब्ध्वा नाधिबन्धेन योक्ष्यसे॥ श्लोक ३१ अ० ७१ शा० पर्व॥

२—अनयाः संप्रवर्तेरन्भवेद्वै वर्णसंकरः।
दुर्भिक्षमाविशेद्राष्ट्रं यदि राजा न पालयेत्॥ श्लोक २९ अ० ६८ शा० पर्व॥

३—योगक्षेमो हि राष्ट्रस्य राजन्यायत्त उच्यते॥ श्लोक १ अ० ७४ शा० पर्व॥

४—नित्यमुद्यतदण्डश्च भवेन्मृत्युरिवारिषु।
निहन्यात्सर्वतो दस्यून्न कामात्कस्यचित्क्षमेत्॥ श्लोक ५ अ० ७५ शा० पर्व॥

५—यत्रादृष्टं भयं ब्रह्म प्रजानां शमयत्युत।
दृष्टं च राजा बाहुभ्यां यद्राज्यं सुखमेधते॥ श्लोक २ अ० ७४ शा० पर्व॥

६—यद्राष्ट्रेऽकुशलं किञ्चिद्राज्ञो रक्षयतः प्रजाः।
चतुर्थं तस्य पापस्य राजा भारत विन्दति॥ श्लोक ८ अ० ७५ शा० पर्व॥

७—किं तैर्येऽनडुहोनोह्याः किं धेन्वा वाऽप्यदुग्धया।
वन्ध्यया भार्यया कोऽर्थः कोऽर्थो राज्ञाऽप्यरक्षता॥ श्लोक ४१ अ० ७८ शा० पर्व॥

८—यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यथा ह्यनर्थः षण्ढो वा पार्थ क्षेत्रं यथोषरम्॥ श्लोक ४२ अ० ७८ शा० पर्व॥
एवं विप्रोऽनधीयानो राजा यश्च न रक्षिता।
मेघो न वर्षते यश्च सर्वथा ते निरर्थकाः॥ श्लोक ४३ अ० ७८ शा० पर्व॥

सदैव साधुओं की रक्षा करते हैं और दुष्टों का दमन करते हैं उनको ही राजा बनना उचित है, क्योंकि ऐसे पुरुष ही इस सम्पूर्ण पृथ्वी को धारण करने में समर्थ होते हैं।[१]

राजा को अपनी प्रजा की दस्युओं एवं शत्रुओं से तो रक्षा करनी ही चाहिए कभी-कभी ऐसा भी होता था कि राज्य में कुछ ऐसे जन-समुदायों से भी प्रजा की रक्षा करनी पड़ती थी जो कि प्रजा द्वारा अनुचित रूप में संघठित किए जाते थे और जिनका उद्देश्य राजा का विरोध करना होता होगा। इस विषय में भीष्म राजा युधिष्ठिर को इस प्रकार आदेश देते हैं--पुर की रक्षा, भृत्यों के विश्वास पर ही निर्भर न रहना, पुरवासियों के अनुचित संघों का भेदन, शत्रु, मित्र और उदासीनों की पड़ताल करना राजा का कर्त्तव्य है।[२] प्रजारक्षण कार्य के लिए प्रकाश दण्ड और गुप्त दण्ड दोनों का आश्रय लेना चाहिए ऐसा भीष्म का मत है। राज्य में शान्ति एवं रक्षा की व्यवस्था के निमित्त राजा को समयानुसार प्रकाश, दण्ड अथवा गुप्त दण्ड का आश्रय लेते रहना चाहिए। इन दोनों प्रकार के दण्डों का आश्रय लेन से राज्य में शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था विधिवत हो जाती है।[३] प्रकाश दण्ड से भीष्म का तात्पर्य सेना से है और जिसको उन्होंने आठ प्रकार का बतलाया है। परन्तु अप्रकाश दण्ड अनेक प्रकार का होता है।[४] चूर्ण, विष आदि के द्वारा गुप्त रीति से दुष्टों का दमन करना अप्रकाश दण्ड[५] और युद्ध द्वारा दुष्ट-दमन कर प्रजा-रक्षण कार्य करना प्रकाश दण्ड माना गया है। इस प्रकार सेना का संघठन कर उसकी उचित व्यवस्था करना राजा का कर्त्तव्य हो जाता है। भीष्म ने सेना के आठ अंग बतलाते हुए इस प्रकार राजा युधिष्ठिर से कथन किया है कि रथ, हाथी, अश्व, पैदल, विष्टि (भारवाहक), नौका, चर और शिक्षक (देशिकाः) यह सेना के आठ भेद प्रकाश दण्ड के भेद हैं।[६] इसलिए इस आठ अंग वाली सेना का संघठन उचित रीति से होना चाहिए।

इस प्रकार उचित दण्ड विधान के द्वारा राज्य की रक्षा राजा को करनी चाहिए[७] जिससे शत्रु राज्य पर आक्रमण करने का साहस न कर सके और आन्तरिक विघ्न-बाधाएँ उपस्थित न हो सकें।

१--नित्यं यस्तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्तयेत्।
स एव राजा कर्त्तव्यस्तेन सर्वमिदं धृतम्॥ श्लोक ४४ अ० ७८ शा० पर्व॥

२--पुरगुप्तिरविश्वासः पौरसंघातभेदनम्।
अरिमध्यस्थमित्राणां यथावच्चान्ववेक्षणम्॥ श्लोक १० अ० ५८ शा० पर्व॥

३--प्रकाशश्चाप्रकाशश्च दण्डोऽथ परिशब्दितः॥ श्लोक ४० अ० ५९ शा० पर्व॥

४--प्रकाशोऽष्टविधस्तत्र गुह्यश्च बहुविस्तरः॥ श्लोक ४० अ० ५९ शा० पर्व॥

५--जङ्गमाजङ्गमाश्चोक्ताश्चूर्णयोगा विषादयः॥ श्लोक ४२ अ० ५९ शा० पर्व॥

६--रथा नागा हयाश्चैव पादाताश्चैव पाण्डव।
विष्टिर्नावश्चराश्चैव देशिका इति चाष्टमम्॥ श्लोक ४१ अ० ५९ शा० पर्व॥

७--दण्डनीत्या च सततं रक्षितव्यं नरेश्वर॥ श्लोक १२९ अ० ५९ शा० पर्व॥

(३) न्याय-व्यवस्था की स्थापना—राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था को चिरस्थायी रखने के लिए मनुष्य-मनुष्य के मध्य न्याय का व्यवहार होना परम आवश्यक है जिससे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के अधिकार-क्षेत्र पर आक्रमण न करने पाए और इस प्रकार राज्य में आन्तरिक शान्ति भंग न हो सके। इस कार्य के सम्पादन हेतु राजा को विधिवत् न्याय-व्यवस्था की स्थापना एवं उसके धर्मानुसार संचालन हेतु प्रयत्न-शील होना चाहिए। भीष्म राज्य में न्यायव्यवस्था की स्थापना एवं उसके विधिवत सम्पादित किए जाने से सम्बन्धित राजा के कर्तव्य की ओर संकेत करते हुए इस प्रकार कहते हैं—राजा को अभियोगों के सुनने के लिए महान अनुभवी और समस्त विषयों के तत्व के ज्ञाता विद्वान पुरुषों को न्यायकार्य सम्पादन हेतु नियुक्त करना चाहिए।[1] न्यायवितरण कार्य में लेशमात्र भी पक्षपात न होने पाए। यहां तक कि राजा के स्वयं पुत्र-पौत्रों का भी यदि दोष पाया जाए तो उनको भी दोष के अनुसार ही दण्ड मिलना चाहिए।[2] जो राजा राजधर्म के अनुसार प्रजापालन करते हैं उनके समक्ष माता, पिता, भ्राता, भार्य्या और पुरोहितों में भी कोई अदण्डच नहीं होता।[3] राज्य में न्याय-व्यवस्था (व्यवहार) के लोप हो जाने से राजा को न तो स्वर्ग की ही प्राप्ति होती है और न यश की ही।[4] जिस राज्य में राजा धर्मानुसार दण्ड का प्रयोग करता रहता है वह राजा धर्म की प्राप्ति करता है। उचित दण्ड की व्यवस्था की स्थापना करना ही राजा का उत्तम धर्म बतलाया गया है।[5]

इस प्रकार राज्य में न्यायव्यवस्था की स्थापना एवं उसकी सुव्यवस्था करना राजा का एक प्रधान कर्तव्य, भीष्म द्वारा, माना गया है।

(४) राजकर्मचारियों की नियुक्ति की व्यवस्था—राज्य संचालन महान कार्य होता है जो एक या दो व्यक्तियों द्वारा सम्पादित नहीं हो सकता। राज्य के संचालन हेतु अनेक मनुष्यों की आवश्यकता होती है। भीष्म इस विषय में अपना मत प्रकट करते हुए राजा युधिष्ठिर से कहते हैं—कोई भी अकेला व्यक्ति राज्य पर शासन करने में समर्थ नहीं है। सहाय-हीन राजा अर्थ प्राप्त करने या प्राप्त किए हुए अर्थ की रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकता।[6] भीष्म के इन्हीं विचारों की पुष्टि

१—श्रोतुं चैव न्यसेद्राजा प्राज्ञान्सर्वार्थदर्शिनः।
व्यवहारेषु सततं तत्र राज्यं प्रतिष्ठितम्॥ श्लोक २८ अ० ६९ शा० पर्व॥

२—यथा पुत्रास्तथा पौत्रा द्रष्टव्यास्ते न संशयः।
भक्तिश्चैषां न कर्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते॥ श्लोक २७ अ० ६९ शा० पर्व॥

३—माता पिता च भ्राता च भार्या चैव पुरोहितः।
नादण्ड्यो विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मेण तिष्ठति॥ श्लोक ६० अ० १२१ शा०पर्व॥

४—व्यवहारलोपे नृपतेः कुतः स्वर्गः कुतो यशः॥ श्लोक ३२ अ० ६९ शा० पर्व॥

५—सम्यग्दण्डधरो नित्यं राजा धर्ममवाप्नुयात्।
नृपस्य सततं दण्डः सम्यग्धर्मः प्रशस्यते॥ श्लोक ३० अ० ६९ शा० पर्व॥

६—न च प्रशास्तुं राज्यं हि शक्यमेकेन भारत।
असहायवता तात नैवार्थाः केचिदप्युत॥ श्लोक १३ अ० ११५ शा० पर्व॥

राजा युधिष्ठिर ने भी इस प्रकार की है—सेवकों से रहित अकेला राजा, राज्य की रक्षा नहीं कर सकता। कुलीन वंश में उत्पन्न सभी लोग राज्य की इच्छा किया करते हैं।[1] भीष्म और राजा युधिष्ठिर के इस मत का समर्थन शुक्र ने इन शब्दों में किया है—कार्य छोटे से छोटा क्यों न हो परन्तु अकेले मनुष्य के द्वारा उसका सम्पादन नहीं हो सकता। जब छोटे से छोटा कार्य अकेले मनुष्य के द्वारा सम्पादित नहीं हो सकता तो फिर भला असहाय मनुष्य विशाल राज्य के संचालन में किस प्रकार सफल हो सकता है।[2] मानवधर्मशात्र में भी इसी मत की पुष्टि करते हुए बतलाया गया है—जब कि सरल एवं सुगम कार्य भी अकेले व्यक्ति से होना दुष्कर है तो विशेषकर बड़े फल का देनेवाला राज्य सम्बन्धी कार्य अकेला मनुष्य कैसे कर सकता है।[3]

इस प्रकार राज्य संचालन हेतु अनेक पुरुषों की आवश्यकता होती है। इस विषय में राजा युधिष्ठिर और भीष्म दोनों एक मत रखते हैं। परन्तु राज्य संचालन हेतु जिन व्यक्तियों की आवश्यकता होती है उनको विविध विषयों का ज्ञान होना चाहिए। उनमें विविध प्रकार की सामर्थ्य एवं गुण अलग अलग होने चाहिए। इनके इन्हीं विशेष गुणों एवं सामर्थ्य के अनुसार इनमें राज्य के विभिन्न कार्यों के सम्पादन हेतु कार्य वितरण होना चाहिए। इस लिए राजा का यह प्रमुख कर्तव्य हो जाता है कि वह राज्य के संचालन हेतु इन व्यक्तियों की स्वयं नियुक्ति करे अथवा इनकी नियुक्ति की अन्य सुव्यवस्था करे। राजा के इस कर्तव्य की ओर संकेत करते हुए भीष्म अपना मत प्रकाशित करते हुए एक कुत्ता का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि एक मुनि ने एक कुत्ता को उसकी प्रार्थना के अनुसार क्रमशः तेन्दुआ, व्याघ्र, हाथी, सिंह और शरभ में परिवर्तित किया। परन्तु वह कुत्ता का स्वभाव न त्याग सका। इस उदाहरण के द्वारा वह युधिष्ठिर को उपदेश देते हैं कि उनको मनुष्यों की प्रकृति के अनुसार राज्य में राजकर्मचारियों की नियुक्ति करनी चाहिए।[4] वह कहते हैं—जो राजा इस प्रकार कुत्ता के समान सेवकों को

१—न ह्येको भृत्यरहितो राजा भवति रक्षिता।
राज्यं चेदं जनः सर्वस्तत्कुलीनोऽभिकांक्षति॥ श्लोक १२ अ० ११५ शा० पर्व॥

२—यद्यप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करं।
पुरुषेणासहायेन किमुराज्यं महोदयम्॥ श्लोक १ अ० २ शुक्रनीति॥

३—अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करं।
विशेषतोऽसहायेन किन्नु राज्यं महोदयं॥ श्लोक ५५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

४—व्याघ्रान्नागोमदपटुर्नागः सिंहत्वमागतः।
सिंहस्त्वं बलमापन्नो भूयः शरभतां गतः॥ श्लोक २१ अ० ११७ शा० पर्व॥
मया स्नेहपरीतेन विसृष्टो नकुलान्वयः।
यस्मादेवमपापं मां पाप हिंसितुमिच्छसि॥ श्लोक २२ अ० ११७ शा० पर्व॥
तस्मात्स्वयोनिमापन्नः श्वैव त्वं हि भविष्यति।
ततो मुनिजनद्वेष्टा दुष्टात्मा प्रकृतोऽबुधः॥ श्लोक २३ अ० ११७ शा० पर्व॥

उनकी योग्यता एवं प्रकृति के अनुसार नियुक्त करता है वह राजा राज्य-फल भोग किया करता है।[1] कुत्ता का सम्मान कर उसको उसके अनुरूप पद से ऊँचे पद पर नियुक्त करना उचित नहीं है। कुत्ता अपने अनुरूप पद से ऊंचा पद पाजाने से प्रमत्त हो जाता है।[2] जो राजा सेवक को उचित कार्यों में नियुक्त करता है वह भृत्यों से सम्पन्न राजा श्रेष्ठ फल का भोग किया करता है।[3] शरभ के पद पर शरभ, सिंह के पद पर सिंह, बाघ के पद पर बाघ, और तेन्दुआ के पद पर तेन्दुआ की नियुक्ति करनी उचित है।[4] जो सेवक जिस कार्य के योग्य है उसको उसी कार्य के सम्पादन हेतु नियुक्त करना उचित होगा। कर्म-फल के अभिलाषी को सेवकों को इस नियम के विरुद्ध नियुक्त करना उचित नहीं है।[5] जो बुद्धिहीन राजा इस नियम का अतिक्रमण करके विरुद्ध रीति से अपने सेवकों की नियुक्ति करता है वह प्रजारञ्जन-कार्य-सम्पादन में समर्थ नहीं हो सकता।[6] मूर्ख, क्षुद्र, बुद्धिहीन, इन्द्रिय-लोलुप और अकुलीन मनुष्यों को राज्य संचालन हेतु नियुक्त करना गुणवान राजा का कर्तव्य नहीं है।[7] साधु, सद्वंश में उत्पन्न, ज्ञानी, अनिन्दक, पवित्र, और दक्ष पुरुषों की नियुक्ति राजा को करनी चाहिए।[8]

इसी विषय में भीष्म दूसरे प्रसंग में राजा युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए इस प्रकार कहते हैं—शूर-वीर, स्वामि-भक्त, रोग-हीन, उत्तम शिष्टाचार और परिवार युक्त, विद्वान, धार्मिक, साधु और स्थिर स्वभाव वाले, जो अपमानित नहीं हैं, किसी का अपमान नहीं करते, लोगों के चरित्रों का ज्ञान रखनेवाले, परलोक को माननेवाले, और ऐश्वर्य को अभिलाषा करने वाले पुरुषों को राजा को अपना सहायक

१—एवं शुना समान्भृत्यान्स्वे स्वे स्थाने नराधिपः।
नियोजयति कृत्येषु स राज्य फलमश्नुते॥ श्लोक १ अ० ११९ शा० पर्व॥

२—न श्वा स्वं स्थानमुत्क्रम्य प्रमाणमभिसत्कृतः।
आरोप्यः श्वास्वकात्स्थानादुत्क्रम्यान्यत्प्रमाद्यति॥ श्लोक २ अ० ११९ शा० पर्व॥

३—अनुरूपाणि कर्माणि भृत्येभ्यो यः प्रयच्छति।
स भृत्यगुणसम्पन्नो राजा फलमुपाश्नुते॥ श्लोक ४ अ० ११९ शा० पर्व॥

४—शरभ. शरभस्थाने सिंहः सिंह इवोर्जितः।
व्याघ्रो व्याघ्र इव स्थाप्यो द्वीपी द्वीपी यथा तथा॥ श्लोक ५ अ० ११९ शा०पर्व॥

५—कर्मस्विहानुरूपेषु न्यस्या भृत्या यथाविधि।
प्रतिलोमं न भृत्यास्ते स्थाप्या. कर्मफलैषिणा॥ श्लोक ६ अ० ११९ शा० पर्व॥

६—यः प्रमाणमतिक्रम्य प्रतिलोमं नराधिपः।
भृत्यान्स्थापयतेऽबुद्धिर्न स रञ्जयते प्रजाः॥ श्लोक ७ अ० ११९ शा० पर्व॥

७—न बालिशा न च क्षुद्रा नाप्राज्ञा नाजितेन्द्रियाः।
नाकुलीना नराः सर्वे स्थाप्या गुणगणैषिणा॥ श्लोक ८ अ० ११९ शा० पर्व॥

८—साधवः कुलजाः शूरा ज्ञानवन्तोऽनसूयकाः।
अक्षुद्राः शुचयो दक्षाः स्युर्नराः पारिपार्श्वकाः॥ श्लोक ९ अ० ११९ शा० पर्व॥

बनाना चाहिए। इससे राजा का कल्याण होता है।[1] इसी प्रसंग में भीष्म एक स्थल पर कहते हैं---राजा को सदैव साधु और उत्तम कुलों में उत्पन्न पुरुषों का परित्याग न करके उनको यथायोग्य पदों पर नियुक्त करना चाहिए। जिन पुरुषों के संग्रह करने की आवश्यकता है उनका संग्रह करना चाहिए।[2]

इस प्रकार भीष्म ने राज्य-संचालन हेतु योग्य सदाचारी तथा कुलीन व्यक्तियों का संग्रह एवं राज्य के विभिन्न पदों पर उनकी यथायोग्य नियुक्ति करना राजा का कर्तव्य बतलाया है।

(५) राजकर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण—मनुष्य का कुछ ऐसा स्वभाव है कि उसको प्रभुता पाकर मद हो जाता है। वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने लगता है। ऐसी स्थिति में इस बात की आवश्यकता होती है कि इन पर नियंत्रण बना रहे जिससे यह लोग अपने अधिकार या पद का दुरुपयोग न करने पाएं। अतः इनके द्वारा किए गये कार्यों का विधिवत निरीक्षण होना चाहिए। इसीलिए भीष्म राजा के कर्तव्यों में एक कर्तव्य यह भी बतलाते हैं कि राजा को अपने राज्य के कर्मचारियों के निरीक्षण हेतु व्यवस्था स्थापित करनी चाहिए। इस विषय में भीष्म राजा युधिष्ठिर को दण्डनीतिशास्त्र की ब्रह्मा द्वारा उत्पत्ति का विधान करते हुए कहते हैं—इस शास्त्र में राजा के अनेक कर्तव्य बतलाए गए हैं जिनमें एक कर्तव्य यह भी निर्धारित किया गया है कि राजा को अपने भृत्यों (राजकर्मचारियों) के कार्यों का निरीक्षण करना चाहिए।[3]

इस विषय में दूसरे स्थल पर भीष्म राजा के कर्तव्यों का बोध कराते हुए बतलाते हैं कि राजा को अपने भृत्यों के कार्यों का निरीक्षण करते रहना चाहिए।[4] जिन भृत्यों (राजकर्मचारियों) को अधिकार पर नियुक्त किया गया है उनके कार्यों का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष विधि से निरीक्षण राजा को नित्य करना चाहिए।[5]

इस प्रकार भीष्म के मतानुसार राज्य के कर्मचारियों के दैनिक व्यवहार एवं आचरण तथा उनके द्वारा किए जानेवाले कार्यों का निरीक्षण विधिवत होना चाहिए और जिसके लिए राजा को समुचित व्यवस्था की स्थापना करनी चाहिए।

१---शूरान्भक्तानसंहार्यान्कुले जातानरोगिणः।
शिष्टान् शिष्टाभिसंबन्धान्मानिनोऽनवमानिनः॥ श्लोक २३ अ० ५७ शा० पर्व॥
विद्याविदो लोकविदः परलोकान्ववेक्षकान्।
धर्मे च निरतान्साधूनचलानचलानिव॥ श्लोक २४ अ० ५७ शा० पर्व॥
सहायान्सततं कुर्याद्राजा भूतिपरिष्कृतः॥ श्लोक २५ अ० ५७ शा० पर्व॥

२---साधूनामपरित्यागः कुलीनानां च धारणम्॥ श्लोक ८ अ० ५८ शा० पर्व॥

३---भृतानां चान्ववेक्षणम्॥ श्लोक ५४ अ० ५९ शा० पर्व॥

४---भृतानामन्ववेक्षकः॥ श्लोक १९ अ० ५७ शा० पर्व॥

५---प्रत्यक्षाश्च परोक्षाश्च सर्वाधिकरणेष्वथ॥ श्लोक ६८ अ० ५९ शा० पर्व॥

(६) **आर्थिक कल्याण की व्यवस्था**—राज्य में सुख और शान्ति के स्थायी रूप से रहने के लिए इस बात की परम आवश्यकता है कि राज्य में आर्थिक कल्याण की व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध किया जाय। राज्य के प्रत्येक नागरिक की आर्थिक स्थिति ऐसी अवश्य होनी चाहिए जिससे वह कम से कम अपनी दैनिक साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। जो लोग व्यवसाय रहित हों उनको व्यवसाय मिलना चाहिए। जो व्यक्ति शरीर अथवा मस्तिष्क की असमर्थता या अस्वस्थता के कारण कार्य करने में असमर्थ हों उनके भरण-पोषण का भार राज्य पर होना चाहिए। इसी लिए भीष्म राजा का यह कर्तव्य बतलाते हैं कि राजा को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे अप्राप्त अर्थ का लाभ, प्राप्त अर्थ की वृद्धि और इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त हुए धन को पात्रों में विधिवत वितरण किया जा सके।[१] हो सके तो राजा को उन लोगों का भरण-पोषण करना चाहिए जो अपने शरीर या मस्तिष्क की असमर्थता या अस्वस्थता अथवा किन्हीं अन्य विशेष परिस्थितियों के कारण अपने भरण-पोषण में असमर्थ होते हैं। इस विषय में भीष्म स्पष्ट व्यवस्था देते हुए कहते है—राजा को उन लोगों के भरण-पोषण की व्यवस्था करनी चाहिए जो व्यवसाय रहित हैं, अथवा जिनके भरण-पोषण के लिए कोई साधन नहीं है।[२] भीष्म उस राजा को उत्तम मानते हैं जो वृत्ति-हीन पुरुषों के भरण-पोषण का प्रबन्ध करता है और वृत्तिवानों की देख-रेख करता है।[३] इसी विषय में भीष्म कैकयराज और राक्षस का सम्वाद देकर इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं कि राजा को अपने राज्य में अनाथ, वृद्ध, दुर्बल, दुखी, असहाय, और स्त्रियों के भरण-पोषण की व्यवस्था करनी चाहिए। कैकय राज्य के राजा के मुख से जो बचन इस सम्बन्ध में कहे गए हैं वह इस सिद्धान्त की स्थापना करने के लिए पुष्ट प्रमाण हैं।[४] भीष्म उस राज्य को निन्दित समझते हैं जहाँ लोग भृति एवं व्यवसाय रहित होकर भिक्षावृत्ति को ग्रहण करने पर विवश होते हैं। उन्होंने कैकय राज्य को उत्तम राज्य माना है और इस नाते से उन्होंने वर्णन किया है कि कैकय राज्य में भिक्षावृत्ति ग्रहण करने का अधिकार केवल ब्रह्मचारियों को ही था और जो ब्रह्मचर्य आश्रम धारण कर गुरुकुल में अपने गुरुओं के आश्रित रहकर वेदाध्ययन करते हुए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते थे।[५] दूसरे प्रसंग में भीष्म इस विषय में राजा युधिष्ठर को

१—अलब्ध लाभो लब्धस्य तथैव च विवर्धनम्।
प्रदानं च विवृद्धस्य पात्रेभ्यो विधिवत्ततः॥ श्लोक ५७ अ० ५९ शा० पर्व॥
अर्थस्य काले दानं च॥ श्लोक ५४ अ० ५९ शा० पर्व॥

२—अभृतानां च भरणं॥ श्लोक ५४ अ० ५९ शा० पर्व॥

३—अभृतानां भवेद्भर्ता भृतानामन्ववेक्षकः॥ श्लोक १९ अ० ५७ शा० पर्व॥

४—कृपणानाथ वृद्धानां दुर्बलातुर योषिताम्।
संविभक्ताऽस्मि सर्वेषां मामकान्तरमाविशः॥ श्लोक १८ अ० ७७ शा० पर्व॥

५—नाब्रह्मचारी भिक्षावान्भिक्षुर्वाऽब्रह्मचारिणः॥ श्लोक २२ अ० ७७ शा० पर्व॥

उपदेश देते हुए कहते हैं--हे युधिष्ठिर ! तुम अपने राज्य में याचक और दस्यु लोगों को कभी वास करने न देना क्योंकि यह लोग प्राणियों के कल्याण की इच्छा न करके अनिष्ट आचरण मात्र किया करते हैं।[1] भीष्म का मत है कि मनु इस प्रकार की व्यवथा स्थापित कर गए हैं कि आपत्काल के अतिरिक्त दूसरे समय में किसी को भी दूसरे से याचना नहीं करनी चाहिए।[2] अर्थात् आपत्काल के अतिरिक्त राज्य में किसी भी व्यक्ति को भिक्षा-वृत्ति धारण करना वर्जित था।

(७) **सार्वजनिक कार्यों की देख-रेख की व्यवस्था**---राजा को अपने राज्य में उन कार्यों की देख-रेख की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए जो कार्य सार्वजनिक कहे जाते हैं। इन कार्यों में उत्सव एवं समारोहों के विधिवत मनाए जाने की व्यवस्था करना, जीर्ण खण्डहरों का जीर्णोद्धार करना, देवमन्दिर, जलाशय, प्रपा, कूप, आदि का निर्माण करना, सार्वजनिक शय्यागृहों का निर्माण एवं उनके सुसंस्करण आदि की व्यवस्था करना मुख्य माने गए हैं। इसीलिए भीष्म राजा के इस कर्तव्य के विषय में यह व्यवस्था देते हैं राजा को अपने राज्य में उत्सव और समाज आदि के संघठन, नियंत्रण एवं विधिवत संचालन की व्यवस्था करनी चाहिए।[3] उसको अपने राज्य में देवमन्दिर, जलाशय, प्रपा, कूप आदि के निर्माण[4] एवं शय्यागृहों के सुसंस्करण तथा निर्माण आदि की व्यवस्था करनी चाहिए। राज्य में जो जीर्ण खण्डहर (स्मारक के रूप में) हों उनकी रक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए।[5]

(८) **मद्यशाला, वेश्या, कुटनी, कुशीलव, कितव आदि के निरोध की व्यवस्था**---भीष्म मद्यशाला, वेश्यागृह, और कुटनी, कुशीलव, तथा कितव आदि के वासस्थान राज्य के उपघातक स्थान मानते हैं। उनका मत है कि यह भद्रपुरुषों के क्लेश का कारण होते हैं। इस लिए इन स्थानों पर राज्य की ओर से पूर्ण नियंत्रण होना चाहिए और उन्हें, पूर्णरूप से नियमन कर, राज्य में उचित स्थान पर रखने की व्यवस्था करनी चाहिए।[6] राजा को मद्य, मांस, वेश्या आदि के गृहों

१---मा ते राष्ट्रे याचनकाऽभूवन्मा चापि दस्यवः।
एषां दातार एवैते नैते भूतस्य भावकाः॥ श्लोक २४ अ० ८८ शा० पर्व॥

२---न केन चिद्याचितव्यः कश्चित्किञ्चिदनापदि।
इति व्यवस्था भूतानां पुरस्तान्मनुनाकृता॥ श्लोक १६ अ० ८८ शा० पर्व॥

३---उत्सवानां समाजानां क्रियाः केतनजास्तथा॥ श्लोक ६७ अ० ५६ शा० पर्व॥

४---कूपाः प्रपाश्च शयनानि च ॥ श्लोक १९ अ० ६५ शा० पर्व॥

५---केतनानां च जीर्णानामवेक्षा चैव सीदताम्॥ श्लोक ७ अ० ५८ शा० पर्व॥

६---पानागार निवेशाश्च वेश्याः प्रापणिकास्तथा।
कुशीलवाः सकितवा ये चान्ये केचिदीदृशाः॥ श्लोक १४ अ० ८८ शा० पर्व॥
नियम्याः सर्व एवैते ये राष्ट्रस्योपघातकाः।
एते राष्ट्रेऽभितिष्ठन्तो बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः॥ श्लोक १५ अ० ८८ शा० पर्व॥

को भली भाँति नियंत्रण में रखना चाहिए क्योंकि मनुष्य कामासक्त होने पर उचित और अनुचित कार्य का विचार नहीं करता।[1] मद्य, मांस, परस्त्री और पर धन हरण में लोग अनायास ही आसक्त हो जाते हैं और लोगों के समक्ष इस विषय में शास्त्रप्रदर्शन किया करते हैं, ऐसी भीष्म की धारणा है।[2] इसीलिए राज्य के कल्याण के निमित्त राजा को इनको नियंत्रण में रखना चाहिए।

इस प्रकार भीष्म ने राजा के कर्तव्यों का वर्णन संक्षेप में किया है।

१––स्थानान्येतानि संयम्य प्रसंगो भूतिनाशनः।
कामे प्रसक्तः पुरुषः किमकार्यं विवर्जयेत् ॥ श्लोक २१ अ० ८८ शा० पर्व ॥

२––मद्यमांसपरस्वानि तथा दारा धनानि च।
आहरेद्रागवशगस्तथा शास्त्रं प्रदर्शयेत् ॥ श्लोक २२ अ० ८८ शा० पर्व ॥

तृतीय अध्याय

मंत्रिपरिषद्

मंत्रिपरिषद् की अनिवार्यता—प्राचीन भारत के राजशास्त्र प्रणेताओं की भांति भीष्म ने भी राज्य का सप्तांग अथवा सप्तात्मक स्वरूप माना है। उनके मतानुसार राज्य के सात अंग होते हैं और इन्हीं सात अंगों के संयोग से राज्य का निर्माण होता है। भीष्म के मतानुसार राज्य के यह सात अंग आत्मा (राजा), अमात्य, कोश, दण्ड, मित्र, जनपद, और पुर हैं। राजा को राज्य के इन सातो अंगों की यत्न-पूर्वक रक्षा करनी चाहिए।[1] राज्य के इन सातो अंगों के विधिवत स्थिर रहने एवं अपने अपने निर्धारित कर्तव्यों के उचित रीति से पालन करने से ही राज्य की स्थिति सम्भव मानी गयी है। इसी लिए भीष्म राजा के लिए राज्य के अन्य अंगों की भांति अमात्य-परिषद् अथवा मंत्रि-परिषद् का निर्माण भी अनिवार्य मानते हैं। राजा युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश करते हुए भीष्म यह स्पष्ट बतलाते हैं कि राज्य का मूल राजा के मंत्रियों की सद्मंत्रणा ही होती है।[2] इस प्रकार राज्य के शासन सम्बन्धी कार्य में राजा को अपने मंत्रियों से मंत्रणा लेना एवं उस मंत्रणा के अनुसार शासन करना राजा का परम कर्तव्य होता है।

मंत्रणा सम्बन्धी दूसरा विचारणीय विषय यह है कि एक ही मनुष्य में वह समस्त गुण हों जो कि शासन सम्बन्धी कार्य के निमित्त सद्मंत्रणा के लिए वांच्छनीय हैं, सम्भव नहीं। इसलिए राजा को एक ही व्यक्ति से शासन सम्बन्धी समस्त बिषयों में वास्तविक मंत्रणा मिल सके ऐसा मान लेना उचित नहीं है। इसीलिए भीष्म राजा युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश करते हुए कहते हैं—समस्त सद्गुणों से युक्त कोई एक पुरुष हो ऐसा सम्भव नहीं।[3] ऐसी परिस्थिति में राजा को अनेक विषयों के ज्ञाता एवं अनुभवी अनेक व्यक्तियों से मंत्रणा लेने की आवश्यकता होगी। इसी विषय में

१—राज्ञा सप्तैव रक्ष्याणि तानि चैव निबोध मे।
आत्माऽमात्याश्च कोशश्च दण्डो मित्राणि चैव ॥ श्लोक ६४ अ० ६९ शा० पर्व ॥
तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरुनन्दन।
एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः ॥ श्लोक ६५ अ० ६९ शा० पर्व ॥

२—मंत्रिणां मंत्रमूलं हि राज्ञो राष्ट्रं विवर्धते ॥ श्लोक ४८ अ० ८३ शा० पर्व ॥

३—दुर्लभः पुरुषः कश्चिदेभिर्युक्तो गुणैः शुभैः ॥ श्लोक ५ अ० ८५ शा० पर्व ॥

राजा युधिष्ठिर ने भी इस प्रकार अपना मत प्रकट करते हुए कहा है––समस्त वांच्छनीय सद्‌गुण एक ही पुरुष में विद्यमान नहीं रह सकते, ऐसा मेरा मत है ।[1]

इस प्रकार भीष्म ने अनेक विषयों के ज्ञाता एवं सदाचरण में रत अनेक व्यक्तियों से शासन कार्य में मंत्रणा लेने का विधान करते हुए मंत्रिपरिषद् की अनिवार्यता पर महत्त्व दिया है ।

राज्य-संचालन के निमित्त मंत्रिपरिषद् की अनिवार्यता के विषय में वाल्मीकीय रामायण में भी इस प्रकार के विचार प्रकट किए गए हैं । रामायण के अयोध्या काण्ड में राम ने अपने भाई भरत से कतिपय प्रश्न किये हैं । इन प्रश्नों में एक प्रश्न यह भी है––क्या तुम किसी बात (शासन सम्बन्धी समस्या) का निश्चय अकेले तो नहीं कर लेते ।[2] कौटिल्य भी भीष्म के मंत्रिपरिषद् सम्बन्धी उपर्युक्त विचारों की सम्पुष्टि करते हुए अर्थशास्त्र में लिखते हैं––राज्य एक रथ है, राजा केवल एक चक्र है । राज्य रूपी रथ राजा रूपी एक चक्र पर नहीं चल सकता । इसलिए मेरा ऐसा मत है कि राज्य के संचालन हेतु मंत्री रूपी दूसरे चक्र की आवश्यकता होती है । ऐसा विचार कर राजा को मंत्री अवश्य रखने चाहिए और उनकी मंत्रणा अवश्य लेनी चाहिए ।[3] मंत्रिगण राजा को विपत्ति से बचाते हैं । यह लोग ही समय विभाग के चाबुक से एकान्त रनिवास आदि में प्रमोद पूर्वक समय व्यतीत करते हुए राजा को सचेत करते हैं ।[4] मानवधर्मशास्त्र में भी राजा को मंत्रिगण रखने का उपदेश करते हुए बतलाया गया है––जब कि सरल एवं सुगम कार्य भी अकेले व्यक्ति से होना दुष्कर है तो विशेषकर बड़े फल का देनेवाला राज्य सम्बन्धी कार्य अकेला मनुष्य कैसे कर सकता है । इसलिए उनके (मंत्रियों) के साथ बैठकर राजा को राज्य के कार्यों का नित्य चिन्तन करना चाहिए ।[5] राज्य की स्थिरता एवं उसके विधिवत संचालन के लिए राजा को मंत्रिपरिषद् अनिवार्य रूप से रखने के लिए शुक्रनीति में भी बड़ा महत्त्व दिया गया है । इस विषय में शुक्रनीति में इस प्रकार आदेश दिया गया है––कार्य छोटे से छोटा क्यों न हो परन्तु अकेले मनुष्य के द्वारा उसका सम्पादन

१––नैकस्मिन्पुरुषे ह्येते विद्यन्त इति मे मतिः ।। श्लोक ४ अ० ८५ शा० पर्व ।।

२––कच्चिन्मंत्रयसे नैकः ।। श्लोक १८ सर्ग १०० अयोध्याकाण्ड रामायण ।।

३––सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते ।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च शृणुयान्मतम् ।।
वार्ता १५ अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ।।

४––य एनमपायस्थानेभ्यो वारयेयुः ।। वार्ता १३ अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ।।
छायानालिकाप्रतोदेन वा रहसि प्रमाद्यन्तमभितुदेयुः ।।
वार्ता १४ अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ।।

५––अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किन्नु राज्यं महोदयं ।। श्लोक ५५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।
तैः सार्धं चिन्तयो नित्यं ... ... ।। श्लोक ५६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

नहीं हो सकता। जब छोटे से छोटा कार्य अकेले मनुष्य के द्वारा सम्पादित नहीं हो सकता तो फिर भला असहाय मनुष्य विशाल राज्य के संचालन में किस प्रकार सफल हो सकता है।[1] यद्यपि राजा समस्त विद्याओं में कुशल हो और मंत्र करने की कला में भी निपुण हो तो भी उसको मंत्रियों के बिना अकेले मंत्र को कभी विचारना नहीं चाहिए।[2] बुद्धिमान राजा को सर्वदा अपने सभासद, अधिकारीगण, अमात्यादि प्रकृति और अध्यक्ष लोगों की सम्मति से कार्य करना चाहिए। राजा को कभी भी अपने ही मत का अनुसरण नहीं करना चाहिए।[3] राजा के स्वेच्छाचारी हो जाने से उस पर विपत्ति अवश्य आती है। वह तो अपने संकट का स्वयं कारण बन जाता है। उसकी प्रजा और अमात्य आदि प्रकृति में बहुत बड़ा भेद इसी कारण उत्पन्न हो जाता है।[4] भिन्न-भिन्न मनुष्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार का बुद्धि-वैभव देखा गया है।[5] अकेला मनुष्य सब कुछ जान लेने में समर्थ नहीं हो सकता, इसलिए राजा को प्रजापालन के महान कार्य में विद्वान और बुद्धिमान पुरुषों की सहायता अवश्य लेनी चाहिए।[6]

इस प्रकार भीष्म ने मंत्रिपरिषद् की अनिवार्यता के विषय में जो अपना मत प्रकट किया है उसकी पुष्टि प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र-प्रणेताओं ने मुक्त कण्ठ से की है।

मंत्रिपरिषद् का निर्माण—प्राचीन भारत में नृपतंत्रात्मक राज्यों में मंत्रि-परिषद् के निमित्त उसके सदस्यों की नियुक्ति करना अथवा उनको उनके पदों से पदच्युत करना एकमात्र राजा का कर्तव्य था। प्रत्येक नृपतंत्रात्मक राज्य में मंत्रि-परिषद् का निर्माण राजा द्वारा होता था। यद्यपि राजा को अपने राज्य की मंत्रि-परिषद् के लिए उसके सदस्यों की नियुक्ति का सर्वाधिकार प्राप्त था परन्तु राजा के इस अधिकारक्षेत्र को सीमित करने के लिए कतिपय सिद्धान्तों का निर्माण हो चुका था और इन सिद्धान्तों के अनुसार ही राजा को अपने अमात्यों एवं मंत्रियों की नियुक्ति

१—यद्यप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
पुरुषेणासहायेन किम्नु राज्यं महोदयं॥ श्लोक १ अ० २ शुक्रनीति॥

२—सर्वविद्यासु कुशलो नृपोह्यपि सुमंत्रवित्।
मंत्रिभिस्तु विनामंत्रं नैकार्थं चिन्तयेत्क्वचित्॥ श्लोक २ अ० २ शुक्रनीति॥

३—सभ्याधिकारि प्रकृति सभासत्सु मतेस्थितः।
सर्वदास्यान्नृपः प्राज्ञः स्वमते न कदाचन॥ श्लोक ३ अ० २ शुक्रनीति॥

४—प्रभुः स्वातन्त्र्यमापन्नो ह्यनर्थायैवकल्पते।
भिन्नराष्ट्रो भवेत्सद्यो भिन्नप्रकृतिरेव च॥ श्लोक ४ अ० २ शुक्रनीति॥

५—पुरुषे पुरुषे भिन्नं दृश्यते बुद्धिवैभवम्।
आप्तवाक्यैरनुभवैरागमैरनुमानतः ॥ श्लोक ५ अ० २ शुक्रनीति॥

६—न हि तत्सकलं ज्ञातुं नरेणैकेन शक्यते।
अतः सहायान्वरयेद्राजा राज्यविवृद्धये॥ श्लोक ७ अ० २ शुक्रनीति॥

करनी पड़ती थी। इस सिद्धान्तों ने, उस युग में, राज्य के संविधान का रूप धारण कर लिया था। इन सिद्धान्तों का आपद्‌काल के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर राजा द्वारा अतिक्रमण नहीं किया जा सकता था। यदि किसी राजा ने निरंकुश होकर इन नियमों के अतिक्रमण करने का साहस किया तो उसका पद संकट में अवश्य पड़ जाता था। मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति-सम्बन्धी इन सिद्धान्तों की ओर भीष्म ने भी कतिपय संकेत किये हैं जो महाभारत के शान्तिपर्व में उपलब्ध हैं। इन संकेतों के आधार पर मंत्रिपरिषद् के निर्माण के सिद्धान्तों का जैसा स्वरूप स्थिर किया जा सकता है उसका उल्लेख उसी रूप में नीचे किया जाएगा।

(क) **परीक्षा-सिद्धान्त**—भीष्म ने मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए जिन प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख किया है और जिनका वर्णन संकेत रूप में महाभारत के शान्तिपर्व में उपलब्ध है, उनमें से एक प्रमुख सिद्धान्त यह भी माना गया है कि मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति के निमित्त अभ्यर्थी की विधिवत परीक्षा होनी चाहिए। यदि इस परीक्षा में अभ्यर्थी उत्तीर्ण हो जाए तो वह मंत्रिपरिषद् का सदस्य बनाया जा सकता है। इस विषय में भीष्म यह व्यवस्था देते हैं कि मंत्रिपरिषद् के सदस्य सुपरीक्षित होने चाहिए।[1] राजा युधिष्ठिर को इस विषय का उपदेश देते हुए कि राजा को किस प्रकार के व्यक्तियों को अपना सचिव नियुक्त करना चाहिए भीष्म परीक्षा-प्रणाली की स्थापना करते हुए स्पष्ट कहते हैं—राजा को बिना परीक्षा लिए हुए किसी व्यक्ति को अपना सचिव कभी बनाना नहीं चाहिए।[2]

मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए अभ्यर्थी की परीक्षा का क्या स्वरूप होना चाहिए इस में भी भीष्म ने अपना मत प्रकट किया है। उनके मतानुसार इस विषय में उपधा प्रणाली का आश्रय लेना हितकर माना गया है।[3] यदि अभ्यर्थी उपधा प्रणाली द्वारा भली भाँति परीक्षित हो चुका और अपनी इस परीक्षा में शुद्ध सिद्ध हो गया तो वह मंत्रिपरिषद् का सदस्य बनाया जा सकेगा। उपधाप्रणाली से उनका तात्पर्य धर्मोपधा, कामोपधा, अर्थोपधा, भयोपधा आदि से था। अभ्यर्थी की परीक्षा इस प्रकार गुप्त रीति से ली जानी चाहिए जिससे यह सिद्ध हो जाए कि अभ्यर्थी धर्मात्मा है अथवा दुरात्मा। इसी प्रकार कामोपधा से अभ्यर्थी को काम सम्बन्धी लोभ देकर पता लगाना चाहिए कि अभ्यर्थी कामी पुरुष तो नहीं है। अर्थोपधा से अभ्यर्थी की लोभ प्रवृत्ति की परख की जाती थी, और इसी प्रकार भयोपधा से उसके साहस एवं निर्भयता सम्बन्धी गुण की परीक्षा होती थी। इस प्रकार अभ्यर्थी की गुप्त रीति से भली भांति परीक्षा लेकर उसको राज्य के महत्त्व पूर्ण अंग में स्थान दिया जाना चाहिए, ऐसा भीष्म का मत है।

१—... ... ... सर्वशः सुपरीक्षितैः ॥ श्लोक १९ अ० ८३ शा० पर्व ॥

२—नापरीक्ष्य महीपालः सचिवं कर्तुमर्हति ॥ श्लोक ४ अ० ११८ शा० पर्व ॥

३—परीक्ष्य च गुणान्नित्यं प्रौढ़ भावान्धुरन्धरान् ।
पञ्चोपधा व्यतीतांश्च कुर्याद्राजार्थकारिणः ॥ श्लोक २२ अ० ८३ शा० पर्व ॥

राज्य के महत्त्वपूर्ण पदों के निमित्त मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति के हेतु उपधा प्रणाली का आश्रय प्राचीन भारत में लिया जाता था। इस विषय में कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र नाम के ग्रंथ में इस प्रणाली का आश्रय लेने की व्यवस्था दी है। इस विषय में कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस प्रकार व्यवस्था दी गयी है—जिन व्यक्तियों को अमात्य पद पर नियुक्त करना है उनकी नियुक्ति पहले राज्य के साधारण पदों पर करनी चाहिए। इसके उपरान्त उनकी परीक्षा गुप्त रीति से होनी चाहिए।[१] यह परीक्षा धर्मोपधा, कामोपधा, अर्थोपधा, और भयोपधा के आधार पर होनी चाहिए। उन व्यक्तियों में जो व्यक्ति धर्मोपधा द्वारा शुद्ध सिद्ध हो जाएं कण्टक-शोधन कार्य में नियुक्त किए जाने चाहिए।[२] जो व्यक्ति अर्थोपधा द्वारा परीक्षित हुए हैं उनको अर्थ सम्बन्धी पदों पर नियुक्त करना चाहिए।[३] इसी प्रकार कामोपधा द्वारा जिन व्यक्तियों की परीक्षा ली जा चुकी है और वह इन परीक्षाओं में शुद्ध प्रमाणित किए जा चुके हैं उनको रनिवास सम्बन्धी अधिकार पर अथवा विहार आदि की रक्षा के कार्य सम्बन्धी पदों पर नियुक्त करना चाहिए।[४] भयोपधा द्वारा परीक्षित व्यक्तियों को शुद्ध समझकर विश्वास योग्य जानकर उनको राजा के समीप रखना चाहिए।[५] जिन अभ्यर्थियों की परीक्षा उपर्युक्त चारों उपधाओं द्वारा की जा चुकी है और वह इन चारों उपधाओं सम्बन्धी परीक्षाओं में सफलता प्राप्त कर चुके हों तो उनको मंत्रिपद पर नियुक्त किया जा सकता है।[६] मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति के निमित्त उपधा प्रणाली द्वारा परीक्षा लेने की परम्परा गुप्तकाल में भी किसी अंश-तक प्रचलित थी। इस विषय का उल्लेख गुप्तकालीन शिला लेखों में है।[७]

मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति हेतु परीक्षा-प्रणाली के अनुसरण किए जाने के सिद्धान्त की पुष्टि मानवधर्मशास्त्र में भी की गयी है। मानवधर्मशास्त्र में

१—उपधाभिः शुद्धामात्यवर्गो गूढ़पुरुषानुत्पादयेत्।

वार्ता १ अ० ११ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

मंत्रिपुरोहितसखः सामान्येष्वधिकरणेषु स्थापयित्वामात्यानुपधाभिः शोधयेत् ॥

वार्ता १ अ० १० अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—तत्र धर्मोपधाशुद्धान्धर्मस्थीयकण्टकशोधनेषु स्थापयेत् ॥

वार्ता २० अ० १० अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—अर्थोपधाशुद्धान्समाहर्तृसन्निधातृनिचयकर्मसु ॥

वार्ता २१ अ० १० अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—कामोपधाशुद्धान्बाह्याभ्यान्तरविहाररक्षासु ॥

वार्ता २२ अ० १० अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—भयोपधा शुद्धानासन्नकार्येषु राज्ञः ॥ वार्ता २३ अ० १० अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—सर्वोपधा शुद्धान्मंत्रिणः कुर्यात् ॥ वार्ता २४ अ० १० अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—सर्वोपधाभिश्च विशुद्धबुद्धिः ॥स्कन्दगुप्त के समय का जूनागढ़ में प्राप्त अभिलेख॥

मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति करने की विधि पर कुछ प्रकाश डाला गया है। इस प्रसंग में यह बतलाया गया है कि जिन व्यक्तियों को राजा अपना मंत्री बनाए उनमें कौन-कौन से गुण होने चाहिए। इन गुणों का वर्णन करते हुए इस प्रकार की व्यवस्था दी गयी है कि इन व्यक्तियों को मंत्रिपद देने के पूर्व यह भी भली भाँति देख लेना चाहिए कि वह परीक्षा में भली प्रकार उत्तीर्ण हो चुके हैं।[1] इस प्रकार मनु ने भी मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए परीक्षा-प्रणाली का समर्थन किया है।

शुक्र मंत्रिपरिषद् के सदस्यों के लिए ही नहीं अपितु राज्य के समस्त कर्मचारियों की नियुक्ति के निमित्त अभ्यर्थी की परीक्षा लेने का विधान करते हुए कहते हैं–किसी व्यक्ति के विद्याध्ययन काल समाप्त हो जाने के उपरान्त उसकी भली भाँति परीक्षा लेकर उस व्यक्ति को उसकी योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुरूप कार्य में नियुक्त कर देना चाहिए।[2]

इस प्रकार मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के निमित्त परीक्षा-प्रणाली के अनुसरण किए जाने के सिद्धान्त की स्थापना जिस रूप में भीष्म ने की है उसकी सम्पुष्टि मनु, शुक्र, और कौटिल्य आदि प्राचीन भारत के राजशास्त्र-प्रणेताओं ने भी उसी रूप में की है।

(ख) कुलीनता का सिद्धान्त—मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए दूसरा सिद्धान्त कुलीनता का था जिस की ओर भीष्म ने संकेत किया है। इस सिद्धान्त के अपनाए जाने का मूल कारण सम्भवतः यह रहा होगा कि उस युग के अधिकांश लोगों का ऐसा मत रहा होगा कि कुलीन वंश में जन्म लेने से मनुष्य के आचरण पर भी कुलीन वंश का गहन प्रभाव पड़ता है। इस प्रभाव के कारण मनुष्य के सदाचरण के निर्माण में बड़ी सहायता प्राप्त होगी। कुलीन वंश में जन्म लेने से मनुष्य को उच्चाचरण-धारी व्यक्ति के सहवास में आने का अधिक अवसर मिलने की सम्भावना होती है। इसके अतिरिक्त इन परिवारों में शिष्टाचार एवं लौकिक व्यवहार सम्बन्धी नियमों के बरतने के अधिक अवसर प्राप्त हो सकते हैं। सम्भवतः इन्हीं अथवा ऐसे ही विचारों से प्रेरित होकर प्राचीन भारत के राजशास्त्र-प्रणेताओं ने इस सिद्धान्त को अपनाया होगा।

मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए कुलीनता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए भीष्म ने यह स्पष्ट बतलाया है कि मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति इसी सिद्धान्त के आधार पर होनी चाहिए। इस विषय में उन्होंने यह व्यवस्था दी है कि मंत्रिपरिषद् का सदस्य कुलीन कुल में उत्पन्न हुआ पुरुष होना चाहिए।[3] यह सदस्य कुलीन और सम्पन्न होने चाहिए, भीष्म का ऐसा मत है।[4]

१—सचिवान्सप्तचाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥श्लोक ५४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥
२—समाप्त विद्यां संदृष्ट्वा तत्कार्ये तं नियोजयेत् ॥श्लोक ३६७ अ० १ शुक्रनीति ॥
३—कुलीनः कुलसम्पन्नस्तितिक्षुर्दक्ष आत्मवान् ॥ श्लोक १६ अ० ८३ शान्ति पर्व ॥
४—कुलीनान् शीलसम्पन्नान् ... ॥ श्लोक ८ अ० ८३ शान्ति पर्व ॥
कुलीनः कुलसम्पन्नो वाग्मी दक्षः प्रियंवदः ॥ श्लोक २८ अ० ८५ शान्ति पर्व ॥

मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के निमित्त कुलीनता के सिद्धान्त का प्रतिपादन वाल्मीकीय रामायण में भी इसी रूप में किया गया है। भरत अपने बड़े भाई राम को मनाने एवं उन्हें उनका राज्य सौंपने के लिए चित्रकूट गए थे। राम ने चित्रकूट में आए हुए भरत को दुखी पाया। वह भरत की ऐसी दशा देखकर इस निर्णय पर पहुँचे थे कि भरत को दुखी होने का कारण उनके प्रति अयोध्या की प्रजा का विद्रोह रहा होगा। इसी कारण यह भाग कर उनके पास गए थे। इस अवसर पर राम ने भरत से शासन प्रबन्ध सम्बन्धी कतिपय प्रश्न किए थे। इन प्रश्नों में एक प्रश्न यह भी था कि क्या भरत ने कुलीनवंशोत्पन्न व्यक्तियों को अपना मंत्री बनाया था।[१] भरत से इस प्रकार राम के द्वारा प्रश्न किए जाने से यह तात्पर्य निकलता है कि वाल्मीकीय रामायण के रचना-काल में मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति के अवसर पर कुलीनता के सिद्धान्त का अनुसरण किया जाता था।

मानवधर्मशास्त्र में भी कुलीनता के सिद्धान्त के अनुसरण करने के निमित्त बड़ा महत्त्व दिया गया है। मानवधर्मशास्त्र में ऐसा आदेश किया गया है कि मंत्रिपरिषद् में कुलीन सात या आठ सचिव नियुक्त करने चाहिए।[२] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी कौटिल्य ने अमात्यों की योग्यता का उल्लेख करते हुए एक योग्यता यह भी निर्धारित की है कि अमात्य उत्तम कुल में उत्पन्न व्यक्ति होने चाहिए।[३] इस प्रकार कौटिल्य ने भी कुलीनता के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

शुक्र ने भी अपने शुक्रनीति ग्रन्थ में इस सिद्धान्त की स्थापना की है कि राज्य के उच्च अधिकारियों की नियुक्ति के समय उनके कुल या वंश की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। इस ओर प्रयत्न किया जाता था कि राज्य के उच्च कर्मचारी वर्ग की नियुक्ति उच्च वंश या उच्च कुल में जन्म लेनेवाले व्यक्तियों में से की जानी चाहिए। इसी सिद्धान्त के आधार पर मंत्रिपरिषद् का भी निर्माण किया जाता था। शुक्रनीति में इस ओर संकेत किया गया है कि मंत्रिपरिषद् के सदस्य उच्च कुल के होने चाहिए।[४] याज्ञवल्क्य ने भी मंत्रियों के लिए कुलीन वंश में उत्पन्न हुआ होना एक विशेष योग्यता निर्धारित करते हुए यह आदेश दिया है कि राजा के मंत्रियों को कुलीनवंश में उत्पन्न हुआ होना चाहिए।[५]

इस प्रकार भीष्म द्वारा प्रतिपादित कुलीनता के इस सिद्धान्त का समर्थन प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र प्रणेताओं के द्वारा किया गया है।

१—कुलीनाश्च ... ... कृतास्ते तात मंत्रिणः ॥ श्लोक १५ सर्ग १०० अयो० ॥
२—... ... कुलोद्गतान् । सचिवान् सप्तचाष्टौ वा प्रकुर्वीत ॥
श्लोक ५४ अ० ७ मानव-धर्मशास्त्र ॥
३—अभिजातः ... ... अमात्य सम्पत् ॥ वार्ता १ अ० ९ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥
४—कुलगुणशीलवृद्धाञ्छूरान्भक्तान्प्रियंवदान् ॥ श्लोक ८ अ० २ शुक्रनीति ॥
५—Born in good family. श्लोक ३१२ अ० १ याज्ञवल्क्य ॥

(ग) पैतृक सिद्धान्त—मंत्रिपरिषद् की सदस्यता सम्बन्धी एक प्रमुख सिद्धान्त पैतृक सिद्धान्त भी था। भीष्म ने राजा युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश करते हुए बतलाया है कि राजा को पिता-पितामह से चले आए मंत्रिवंश से मंत्रियों की नियुक्ति करनी चाहिए।[1] इस प्रकार वह मंत्रिपरिषद् के लिए पैतृक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। भीष्म के द्वारा इस सिद्धान्त के प्रतिपादन करने का मुख्य कारण यह हो सकता है कि उनकी यह धारणा रही होगी कि मनुष्य के आचरण के निर्माण में पिता के आचरण का गहन प्रभाव पड़ता है। रक्त का प्रभाव वातावरण के प्रभाव की अपेक्षा अधिक वलिष्ठ एवं प्रभावशाली होता है। मंत्रिवंश में पालन-पोषण एवं उसके निरन्तर सम्पर्क में रहने के कारण मंत्रिपद के योग्य गुणों की प्राप्ति स्वाभाविक है। अतः मंत्रिपुत्र को मंत्रिपद देना उचित ही होगा।

इस प्रकार राजा को अपने मंत्री नियुक्त करते समय सर्व प्रथम इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिस व्यक्ति या जिन व्यक्तियों को वह मंत्रिपरिषद् का सदस्य बनाने जा रहा है वह मंत्रिवंश में उत्पन्न हुए हैं। वास्तव में बात तो यह है कि भीष्म के समय में यह मंत्रिवंश वैदिक युग से परम्परागत चले आरहे थे। भीष्म ने जिन मंत्रिवंशों की ओर इस प्रसंग में संकेत किया है उनका सम्बन्ध वैदिक कालीन राजकर्ताओं के वंश से रहा था जिनको वैदिककाल में रत्निन के नाम से सम्बोधित किया गया है। इसलिए इन मंत्रिवंशों का सम्बन्ध वैदिक युग के मंत्रि-घरानों से था जिन्होंने उस युग के राजाओं के वरण करने में प्रमुख भाग लिया था।

परन्तु भीष्म का यह अभिप्राय नहीं है कि राजा को अपनी मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति के निमित्त केवल इसी एक सिद्धान्त की ओर ध्यान देना चाहिए। ऐसा समझ लेना कि मंत्रिपरिषद् की सहायता के लिए मंत्रिवंश में जन्म लेना अनिवार्य था भीष्म के साथ अन्याय करना होगा। इस सिद्धान्त का पालन करना तभी तक उचित समझना चाहिए जब तक कि मंत्रिवंश में मंत्रिपद के सर्वथा योग्य व्यक्ति सुलभ था। यदि मंत्रिवंश में मंत्रिपद के सर्वथा योग्य व्यक्ति होगा तो भीष्म के मतानुसार, ऐसी दशा में, उसी के समान योग्य अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा उसको सर्व प्रथम अवसर दिया जायगा। परन्तु यदि मंत्रिपद के लिए वास्तव में उपर्युक्त व्यक्ति के प्राप्त न होने पर राज्य के अन्य किसी सुयोग्य नागरिक की, जो कि उस पद के सर्वथा योग्य होता, खोज करनी पड़ेगी और इस प्रकार से खोज करने के उपरान्त प्राप्त व्यक्ति को मंत्रिपद पर अवश्य नियुक्त कर दिया जाएगा।

मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के निमित्त पैतृक-सिद्धान्त का जो स्वरूप भीष्म ने अपनाया है वह नवीन नहीं है। उनके पूर्व एवं उनके पश्चात् के प्राचीन भारत के राजशास्त्र के अनेक प्रणेताओं ने भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इसी रूप में किया है। बाल्मीकीय रामायण में मंत्रिपद की सदस्यता के निमित्त इसी सिद्धान्त का अनु-

---

१—पितृपैतामहो यः स्यात् ... ... ॥ श्लोक ४३ अ० ८३ शान्ति पर्व ॥

सरखा किया जाना चाहिए इस विषय की पुष्टि करते हुए एक प्रसंग में राम के द्वारा भरत के प्रति यह प्रश्न किया गया है कि क्या तुम पिता-पितामह से चले आनेवाले श्रेष्ठ अमात्यों को उत्तम कार्यों में नियुक्त तो करते रहते हो।[१] राम का भरत के प्रति यह प्रश्न इस सिद्धान्त की स्थापना करता है कि अमात्यों की नियुक्ति के समय पैतृक-सिद्धान्त को विशेष महत्त्व दिया जाता था। महाभारत में नारद ने भी इस विषय में उन्हीं विचारों को दोहराया है।[२]

(घ) राज्य में निवास का सिद्धान्त---मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के निमित्त राज्य में निवास के सिद्धान्त का भी पालन होना चाहिए ऐसा भीष्म का मत है। इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए भीष्म यह व्यवस्था देते हैं कि विदेशी चाहे जितना योग्य एवं सदाचारी क्यों न हो परन्तु ऐसे व्यक्ति को राज्य में मंत्रिपद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए।[३] केवल उन्हीं व्यक्तियों में से मंत्रिपद के सदस्यों की नियुक्ति करनी चाहिए जो उस राज्य के नागरिक हों।[४]

मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के निमित्त राज्य में निवास के सिद्धान्त का पालन करने की पुष्टि जो भीष्म ने की है और इस सम्बन्ध में जो विचार उन्होंने प्रकट किये हैं वह विचार प्राचीन भारत के राज-शास्त्र के कई विचारकों ने उसी रूप में व्यक्त किए हैं। यहाँ तक कि ऋग्वेद में भी इस ओर संकेत मिलता है। ऋग्वेद में राजपद के लिए यह स्पष्ट कहा गया है कि हम लोगों को अपने ही देशवासी को राजपद पर अभिषिक्त करना चाहिए।[५] ऋग्वेद में जब राजपद के निमित्त यह व्यवस्था दी गई है तो यह भी सम्भव है कि इस सिद्धान्त का पालन मंत्रिपद के लिए भी किया जाता होगा। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में यही व्यवस्था दी है। उनका मत है कि राजा को अपने राज्य के निवासी को ही अमात्यपद देना चाहिए। उन्होंने मंत्रि-परिषद् के सदस्यों की योग्यताओं का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट बतलाया है कि इस पद के लिए एक आवश्यक योग्यता यह भी है कि उक्त व्यक्ति उसी जनपद का निवासी होना चाहिए जिसका कि वह मंत्री या अमात्य बनाया जा रहा है।[६] कामन्द-कीय नीतिसार में भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया गया है।[७]

१—अमात्यानुपधातीतान्पितृपैतामहान्शुचीन् ।।श्लोक २६ सर्ग १०० अयो० रामा०।।

२—अमात्यानुपधातीतन्पितृपैतामहान्शुचीन् ।। श्लोक ४५ अ० ५ सभापर्व महा० ।।

३—आगन्तुश्चानुरक्तोऽपि काममस्तु बहुश्रुतः।
सत्कृतः सम्विभक्तो वा न मंत्रं श्रोतुमर्हति ।। श्लोक ३८ अ० ८३ शा० पर्व ।।

४—स्वदेशजैः ।। श्लोक १९ अ० ८३ शान्ति पर्व ।।
जानपदः ... ... ।। श्लोक ४१ अ० ८३ शान्ति पर्व ।।
देशजं ... ।। श्लोक ७ अ० ११८ शान्ति पर्व ।।

५—अस्यैक्षैतः संवृज्यते ।। ऋग्वेद ।।

६—जानपदोऽभिजातः ।। वार्ता १ अ० ९ अधि० १ अर्थशास्त्र ।।

७—स्ववग्रहो जानपदः कुलशीलबलान्वितः ।। श्लोक २८ सर्ग ४ कामन्दकीय नीति० ।।

इस सिद्धान्त के अन्तस्तल में यह रहस्य रहता है कि राज्य का नागरिक होने के कारण मंत्रिपरिषद् के सदस्य में अपने राज्य के प्रति विशेष श्रद्धा-भक्ति रहेगी। वह अपनी मातृभूमि के प्रति विश्वासघात करने का साहस न करेगा। दूसरे राज्य का निवासी, विदेशी होने के कारण, शासनक्षेत्र में सदैव विश्वास किए जाने योग्य नहीं माना जा सकता, विशेषकर राज्य के उस अंग में जिस पर कि राज्य का जीवन ही निर्भर हो। विदेशी को अपने राज्य के राजा से मिल जाना स्वाभाविक है। इस प्रकार के मंत्री से राज्य का कितना अनिष्ट हो सकता है कल्पना की जा सकती है। आधुनिक युग के लगभग प्रत्येक राज्य में यह योग्यता अनिवार्य मानी जाती है। वर्तमान युग में तो इस सिद्धान्त का इतना महत्त्व बढ़ गया है कि राज्य में किसी भी पद की प्राप्ति के निमित्त उस राज्य का नागरिक होना अनिवार्य योग्यता मानी गयी है और जिसका पालन इस युग के प्रत्येक राज्य में कठोरता के साथ किया जाता है।

(ङ) लोकप्रियता का सिद्धान्त—भीष्म के मतानुसार मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के योग्य वह व्यक्ति समझा जाता था जो व्यक्ति अन्य आवश्यक गुणों के अतिरिक्त एक विशेष गुण यह भी धारण किए हो कि वह व्यक्ति लोकप्रिय है। मंत्रिपरिषद् के पद के लिए प्रजा के विश्वासपात्र की नियुक्ति उचित समझी जाती थी। महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म यह स्पष्ट कहते हैं कि मंत्रिपद उस व्यक्ति को मिलना चाहिए जिसमें राष्ट्र और पुर दोनों के निवासियों का विश्वास स्वभाव से ही हो।[1] भीष्म के मतानुसार उस व्यक्ति को मंत्रिपरिषद् का सदस्य कभी भी बनाया नहीं जाना चाहिए जिसमें पुर और राष्ट्र के निवासियों का विश्वास न हो। इसी विषय का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने राजा के मंत्रियों की योग्यताओं का उल्लेख करते हुए दूसरे स्थल पर इसी प्रसंग में यह आदेश दिया है कि राजा को ऐसे व्यक्ति को अपना मंत्री बनाना चाहिए जो पुर और राष्ट्र का प्रिय हो।[2] एक स्थल पर उन्होंने राजा को यह आदेश दिया है कि उसको ऐसे व्यक्ति को मंत्री बनाना चाहिए जिसकी कीर्ति चारों ओर स्थापित हो चुकी हो, अर्थात जो प्रजा का प्रिय हो।[3] इसलिए मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए यह प्रतिबन्ध आवश्यक समझा गया था कि वह राज्य की प्रजा के हृदयों में अपने विश्वास की स्थापना कर लेते, और इस विश्वास का आधार धर्म होना चाहिए।

लोकप्रियता एवं जनता के विश्वास के सिद्धान्त का समर्थन शुक्र ने बड़े महत्त्वपूर्ण शब्दों में किया है। इस सिद्धान्त के महत्त्व को उन्होंने तो यहाँ तक मान्यता दी है कि वह राज्य के केवल सौ नागरिकों के किसी राज-कर्मचारी के प्रति अविश्वासी हो जाने पर उसको पदच्युत कर देना न्यायसंगत समझते हैं। इस विषय में उन्होंने शुक्र-

---

१—पौरजानपदा यस्मिन्विश्वासं धर्मतो गताः ॥ श्लोक ४६ अ० ८३ शा० पर्व ॥

२—पौरजानपदप्रियम् ॥ श्लोक १० अ० ११८ शान्ति पर्व ॥

३—कीर्तिप्रधानो यश्च ... ... ॥ श्लोक १३ अ० ८३ शान्ति पर्व ॥

नीति में इस प्रकार स्पष्ट व्यवस्था दी है—राज्य का यदि कोई राजकर्मचारी प्रजा का अप्रिय हो जाए तो ऐसे कर्मचारी को उसके पद से तुरन्त भ्रष्ट कर देना चाहिए। यदि प्रजा के सौ मनुष्य मिलकर राज्य के किसी राजकर्मचारी के विरुद्ध राजा के पास आकर निवेदन करें तो राजा को अपने उस कर्मचारी को उसके पद से तुरन्त च्युत कर देना चाहिए। यहाँ तक कि यदि राजा का मंत्री भी अन्याय-परायण हो जाए तो उसको भी उसके पद से तत्काल च्युत कर देना चाहिए।[1] इस प्रकार भीष्म द्वारा स्थापित प्रजा के विश्वास अथवा लोकप्रियता के सिद्धान्त की पुष्टि शुक्र ने भी की है।

(च) आयु का सिद्धान्त—मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए आयुवान पुरुष होना चाहिए ऐसा भीष्म का मत है। वह मंत्रिपरिषद् के विभिन्न सदस्यों के विशेष लक्षणों एवं योग्यताओं का उल्लेख करते हुए बतलाते हैं कि मंत्री को कम से कम पचास वर्ष की आयु का होना उचित होगा। इस विषय पर शान्तिपर्व श्लोक में नौ अध्याय पच्चासी में जो विचार भीष्म ने प्रकट किए हैं उनकी व्याख्या करते हुए श्री नीलकण्ठ ने इस सिद्धान्त की स्थापना की है कि भीष्म के मतानुसार मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की आयु पचास वर्ष अथवा उससे अधिक होनी चाहिए।[2] इस प्रकार भीष्म मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के निमित्त आयु के सिद्धान्त की स्थापना करते हैं। ऐसा विदित होता है कि आयुवान होने के सिद्धान्त के अन्तस्तल में अनुभव प्राप्ति का विचार निहित रहा होगा। राज्य के प्रधान अंग में अनुभवी व्यक्तियों की परम-आवश्यकता होती है यह सर्वथा सत्य ही है। अनुभवहीन व्यक्ति मंत्री के महान कर्तव्यों के पालन करने में असमर्थ और असफल रहेगा। इसीलिए मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए आयु की योग्यता का विधान भीष्म के द्वारा किया गया है।

मंत्रिपद के लिए आयुवान व्यक्ति होने का प्रतिपादन प्राचीन भारत के अन्य राजशास्त्र-प्रणेताओं ने भी किया है। रामायणकार ने राजा दशरथ के कतिपय मंत्रियों के लिए वृद्ध शब्द का प्रयोग किया है। राजा दशरथ के कम से कम दो मंत्री सुमंत्र और सिद्धार्थ वृद्ध अवश्य थे क्योंकि रामायण में उन्हें वृद्ध शब्द से सम्बोधित किया गया है।[3] रामायण में एक दूसरे प्रसंग में यह बतलाया गया है कि रावण के मंत्रिपरिषद् में भी वृद्ध मंत्री थे। लंका में सीता की बन्दी अवस्था में सरमा नाम की एक स्त्रीरक्षिका सीता की देख-रेख के लिए रावण द्वारा नियुक्त की गयी थी।

१—प्रजाशतेन संद्विष्टं संत्यजेदधिकारिणम्।
अमात्यमपि संवीक्ष्य सकृदन्यायगामिनम् ॥ श्लोक ३७५ अ० २ शुक्रनीति ॥

२—पञ्चाशतवर्षाणां सनित्येकैकस्य ... ॥
शान्ति पर्व महाभारत के श्लोक संख्या ९ अ० ८५ पर नीलकण्ठ की टिप्पणी देखिये ॥

३—तं तु पूर्वोदितं वृद्धं द्वारस्था राजसम्मताः।
तत्र वृद्धो महामात्रः सिद्धार्थो नाम नामतः ॥ श्लोक ४४ सर्ग १४ अयोध्याका० ॥

उसने सीता से यह कहा था कि आप को मुक्त कर देने के लिए रावण की माता ने उसे बहुत समझाया। रावण के हितैषी वृद्ध मंत्री नें भी उससे बहुत कहा[1] परन्तु वह इस बात पर सहमत न हुआ। निषादराज गुह के मंत्री भी रामायण में वृद्ध ही बतलाए गए हैं। वनवास की अवस्था में वह अपनी जाति के लोगों तथा वृद्ध मंत्रियों के साथ राम से मिला था।[2] किष्किधा राज्य के मंत्रियों पर भी यही नियम लागू था। नल, नील मयंद, प्रभृति मंत्री निश्चित रूप से वृद्ध थे। शुक्र ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए इस प्रकार व्यवस्था दी है कि मंत्रिपरिषद् के सदस्य आयुवान (वृद्ध) होने चाहिए।[3]

मनु ने भी राजा को वृद्ध-सेवी होना चाहिए ऐसा आदेश दिया है।[4] परन्तु ऐसा अवश्य है कि मानवधर्मशास्त्र में जिस स्थल पर मंत्रियों की योग्यताओं का उल्लेख है वहाँ आयुसम्बन्धी योग्यता पर कुछ भी नहीं कहा गया है। अतः यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि मनु आयु के सिद्धान्त का समर्थन करते थे। कौटिल्य आयु का प्रतिबन्ध नहीं लगाते हैं। इस दृष्टि से भीष्म के द्वारा वर्णित आयु के सिद्धान्त का समर्थन वाल्मीकीय रामायण और शुक्रनीति ग्रन्थ में किया गया है।

(छ) चारित्रिक सिद्धान्त—भीष्म के मतानुसार मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के निमित्त सबसे महत्त्वपूर्ण योग्यता शुद्ध आचरण धारण करने की है। उनके मतानुसार मंत्री का चरित्र इतना उच्च होना चाहिए कि उसके समक्ष चाहे जैसी परिस्थिति उपस्थित क्यों न हो परन्तु उसको अपने कर्तव्य पथ से लेशमात्र भी विचलित होना नहीं चाहिए। काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों के वशीभूत होकर उसको पथ-भ्रष्ट कभी भी नहीं होना चाहिए।[5] महाभारत के शान्ति पर्व में उन्होंने राजा युधिष्ठिर को इस विषय का उपदेश देते हुए बतलाया है कि शूर, परम अनुभवी, सन्तुष्ट, महान उत्साही, और ब्राह्मण स्वभाववाले व्यक्ति को मंत्रिपद देना चाहिए।[6] मंत्री में देश-काल के अनुसार कुशलता पूर्वक कार्य करने की योग्यता होनी चाहिए और उसको अपने स्वामी का हितैषी होना चाहिए।[7] राजा को ऐसे व्यक्तियों को मंत्रिपरिषद् का

१—जनन्या राक्षसेन्द्रोदैत्यान्मोक्षार्थं वृहद्वचः ।
अतिस्निग्धेन वैदेहि मंत्रिवृद्धेव चोदितः ।। श्लोक २० अ० ३४ युद्ध काण्ड ।।

२—वृद्धैः परिवृत्तोऽमात्यैर्ज्ञातिभिश्चाप्युपागतः ।। श्लोक ३४ सर्ग ५० अयो० का० ।।

३—वृद्धान् ... ... ।। श्लोक ८ अध्याय २ शुक्रनीति ।।

४—वृद्धांश्चनित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन् ।
वृद्धसेवीहि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ।। श्लोक ३८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

५—यो न कामाद्भयाल्लोभान् क्रोधाद्वा धर्ममुत्सृजेत् ।।श्लोम २७ अ० ८० शा० पर्व।।

६—अमात्यांश्चातिशूरांश्च ब्राह्मणांश्च परिश्रुतान् ।
सुसन्तुष्टांश्च कौन्तेय महोत्साहांश्चकर्मसु ।। श्लोक ३ अ० ८३ शान्ति पर्व ।।

७—देशकाल विधाज्ञान्भर्तृकार्य हितैषिणः ।। श्लोक २४ अ० ८३ शान्ति पर्व ।।

सदस्य बनाना चाहिए जो समर्थ पुरुष का सम्मान करते हैं, स्पर्द्धाहीन पुरुष के विषय में स्पर्द्धा नहीं करते, जो काम, क्रोध, भय और लोभ के वश में होकर धर्म का त्याग नहीं करते, और जो अभिमान रहित, सत्यवादी, क्षमाशील, जितात्मा, मानयुक्त, और सब अवस्था में परीक्षित हों।[1] इसी प्रसंग में वह राजा युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहते हैं—हे राजन्! उन्नतिशील, ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाले, व्यभिचार रहित और भली भांति परीक्षा किए गए पुरुषों के साथ सम्बन्ध और अत्यन्त श्रेष्ठ योनि से उत्पन्न, वेद के ज्ञाता, परम्परागत और अभिमान रहित मनुष्यों को ही मंत्री बनाना चाहिए।[2] जो पुरुष ज्ञान-विज्ञान युक्त है, अपना और लोगों के स्वभाव को समझने की सामर्थ्य रखता है वही पुरुष मंत्रणा सुनने के योग्य हो सकता है।[3] जो पुरुष सत्यवादी, शीलवान, गम्भीर, लज्जाशील, मृदु स्वभाव युक्त, और पिता पितामह के क्रम से विद्यमान है वही मंत्रणा सुनने का पात्र है।[4] जो मनुष्य सन्तुष्ट, सर्वसम्मत सत्य प्रिय, पापद्वैषी, मंत्रवित, त्रिकालज्ञ और शूर है वह मनुष्य मंत्र सुनने का अधिकारी है।[5] जो मनुष्य शान्त वचन से समस्त लोक को वश में करने में समर्थ हो, दण्डधारी राजा को अपना मंत्री बनाना चाहिए।[6] भीष्म राजा युधिष्ठिर को एक दूसरे स्थल पर, यह बतलाते हुए कि राजा को किस प्रकार के व्यक्ति को अपना सचिव बनाना चाहिए, कहते हैं कृतज्ञ, बलवान, क्षमाशील, दानशील, जितेन्द्रिय, लोभरहित, सन्तोषी, अपने स्वामी के मित्रों के ऐश्वर्य के इच्छुक[7], आचार युक्त,

१—समर्थान्पूजयेद्यश्च नास्पर्ध्यैः स्पर्धते च यः।
न च कामाद्भयात्क्रोधाल्लोभाद्वा धर्ममुत्सृजेत् ॥ श्लोक १४ अ० ८३ शा० पर्व ॥
अमानी सत्यवान्क्षान्तो जितात्मा मानसंयुक्तः।
स ते मंत्रसहायः स्यात्सर्वावस्था परीक्षितः ॥ श्लोक १५ अ० ८३ शा० पर्व ॥

२—सम्बन्धिपुरुषैराप्तैरभिजातैः स्वदेशजैः।
आहार्यैरव्यभिचारैः सर्वशः सुपरीक्षितैः ॥ श्लोक १९ अ० ८३ शान्ति पर्व ॥
यौनाः श्रौतास्तथा मौलास्तथैवाप्यनहंकृताः।
कर्तव्या भूतिकामेन पुरुषेण बुभूषता ॥ श्लोक २० अ० ८३ शान्ति पर्व ॥

३—ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः प्रकृतिज्ञः परात्मनोः।
सुहृदात्मसमो राज्ञः स मंत्रं श्रोतुमर्हति ॥ श्लोक ४२ अ० ८३ शान्ति पर्व ॥

४—सत्यवाक् शीलसम्पन्नो गम्भीरः सत्रपो मृदुः।
पितृपैतामहो यः स्यात्स मंत्रं श्रोतुमर्हति ॥ श्लोक ४३ अ० ८३ शान्ति पर्व ॥

५—संतुष्टः संमतः सत्यः शौटीरो द्वेषपापकः।
मंत्रवित्कालविच्छूरः स मंत्रं श्रोतुमर्हति ॥ श्लोक ४४ अ० ८३ शान्ति पर्व ॥

६—सर्वलोकमिमं शक्तः सान्त्वेन कुरुते वशे।
तस्मै मंत्रः प्रयोक्तव्यो दण्डमाधित्सतानृप ॥ श्लोक ४५ अ० ८३ शान्ति पर्व ॥

७—कृतज्ञं बलवन्तं च क्षान्तं दान्तं जितेन्द्रियम्।
अलुब्धं लुब्धसंतुष्टं स्वामिमित्रविभूषकं ॥ श्लोक ८ अ० ११८ शान्ति पर्व ॥

सन्धि-विग्रह के ज्ञाता, राजा के धर्म, अर्थ, और काम के जाननेवाले, पुर और जनपदवासी लोगों के प्यारे[1] पवित्र और पवित्र लोगों से घिरे हुए, प्रसन्नमुख, सुखदर्शन, नायक, नीति कुशल, गुण और चेष्टा से युक्त[2] सावधान, सूक्ष्म अर्थों के जाननेवाले मधुर और कोमल भाषी, धीर, शूर, महा एश्वर्य से युक्त पुरुषों को जो राजा मंत्री बनाता है और उनकी अवज्ञा नहीं करता है ऐसे राजा का राज्य चन्द्रमा की चन्द्रिका के समान बढ़ता है।[3]

इस प्रकार भीष्म ने मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए चारित्रिक योग्यता पर बहुत बड़ा महत्त्व दिया है। मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए चारित्रिक योग्यता अनिवार्य थी। इस विषय में भीष्म के अतिरिक्त प्राचीन भारत के राजशास्त्र के अन्य पण्डितों ने भी इसी प्रकार महत्त्व दिया है। प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने राजा के मंत्रियों में बुद्धिबल और चरित्र-बल का होना अनिवार्य माना है। बाल्मीकीय रामायण के जिन प्रसंगों में राजनीति सम्बन्धी विचार प्रकट किए गए हैं उनमें मंत्रियों का जहां-जहां वर्णन है उन सब स्थलों पर मंत्रियों की चारित्रिक योग्यता पर बड़ा महत्त्व दिया गया है। रामायण के बालकाण्ड में राजा दशरथ की मंत्रिपरिषद् का उल्लेख है। इस प्रसंग में राजा दशरथ की मंत्रिपरिषद् के सदस्यों का वर्णन इस प्रकार दिया गया है—राजा दशरथ के मंत्री श्रेष्ठ, गुणग्राही और प्रसिद्ध पराक्रमी थे। विदेशों में भी उनकी ख्याति थी। उनके विचार निश्चित होते थे। वह सभी प्रकार गुणवान थे। उनमें एक भी सदस्य गुणहीन न था। वह सन्धि-विग्रह के रहस्यों के ज्ञाता थे। उनमें मंत्रियों की सम्पदा थी।[4] रामायण के आरण्य काण्ड में मारीच ने उन मंत्रियों को प्राण दण्ड का विधान किया है जो कुमार्गगामी अपने राजा को कुमार्ग की ओर जाने से रोकने में समर्थ नहीं हैं। मारीच का मत है कि राजा के मंत्री ऐसे निर्भीक होने चाहिए जो अपने स्वेच्छाचारी राजा को वश में रख सकें।[5] रामायण के अयोध्याकाण्ड में एक प्रसंग में मंत्रियों के चारित्रिक योग्यता की

१—युक्ताचारं स्वविषये सन्धिविग्रहकोविदम्।
राज्ञस्त्रिवर्गवेत्तारं पौरजानपदप्रियम्॥ श्लोक १० अ० ११८ शान्ति पर्व॥

२—चौक्षं चौक्षजनाकीर्णं सुमुखं सुखदर्शनम्।
नायकं नीतिकुशलं गुणचेष्टासमन्वितम्॥ श्लोक १३ अ० ११८ शा० पर्व॥

३—अस्तब्धं प्रसृतंश्लक्ष्णं मृदुवादिनमेव च।
धीरं शूरं महर्द्धिं च देशकालोपपादकम्॥ श्लोक १४ अ० ११८ शा० पर्व॥
सचिवं यः प्रकुरुते न चैनमवमन्यते।
तस्य विस्तीर्यते राज्यं ज्योत्स्ना ग्रहपतेरिव॥ श्लोक १५ अ० ११८ शा० पर्व॥

४—गुरोर्गुणग्रहीताश्च प्रख्याताश्चपराक्रमैश्च।
विदेश्वपि विज्ञाताः सर्वतोबुद्धिनिश्चयाः॥ श्लोक १७ सर्ग ७ बालकाण्ड॥

५—वध्याः खलु न वध्यन्ते सचिवास्तवरावण।
येत्वामुत्पथमारूढं न विगृह्णन्ति सर्वशः॥ श्लोक ६ सर्ग ४१ अरण्यकाण्ड॥

ओर संकेत किया गया है। इस प्रसंग में राम अपने भ्राता भरत से मंत्रियों की नियुक्ति के विषय में पूछते हैं--क्या तुमने अपने समान विश्वसनीय, शूर, विद्वान, जितेन्द्रिय, कुलीन, अनुभवी और अभिप्राय के समझनेवाले मंत्रियों की नियुक्ति की है।[1] इस प्रकार इन शब्दों में रामायण में मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की चारित्रिक योग्यता का समर्थन किया गया है।

मनु ने भी मंत्रिपद के लिए चारित्रिक योग्यता पर महत्त्व देते हुए मानव-धर्म शास्त्र में इस प्रकार उल्लेख किया है--सब मंत्रियों में अधिक धर्मात्मा और बुद्धिमान ब्राह्मण (मंत्री) के साथ राजा को षाड्गुण्य युक्त मंत्र निश्चय करना चाहिए।[2] अन्य भी पवित्र, बुद्धिमान, परीक्षित, तथा द्रव्य के उपार्जन की युक्ति जानने वाले मनुष्यों को मंत्री बनाना चाहिए।[3]

कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में अमात्यों के लिए कुछ विशेष गुणों की प्राप्ति की व्यवस्था दी है। इन गुणों को उन्होंने अमात्य-सम्पद् के नाम से सम्बोधित किया है। अमात्यसम्पद् की व्याख्या करते हुए उन्होंने बतलाया है कि राजा को अपने अमात्य ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त करना चाहिये जो अपने देश और उत्तम कुल में उत्पन्न हुए हों, जो समय पड़ने पर भली प्रकार राजा के अनुकूल रहें। वह शिल्प विद्या में कुशल, सूक्ष्मदर्शी, विद्वान, स्मृतिवान, कार्यकुशल, सुवक्ता, शीघ्र प्रबन्ध करने की योग्यता से युक्त, क्लेश सहन में समर्थ, पवित्र आचरणधारी, स्नेह करनेवाले, दृढ़भक्ति से युक्त, शीलवान, आरोग्य तथा मानसिक शक्ति से सम्पन्न, जड़ता और चपलता से शून्य, सर्वप्रिय और व्यर्थ किसी से बैर न करनेवाले व्यक्तियों को अमात्य बनाने चाहिए। यही अमात्य की सम्पद् है।[4]

शुक्रनीति में भी मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए चारित्रिक योग्यता पर इतना ही महत्त्व दिया गया है। शुक्र के मतानुसार राजा के मंत्री गुणवान होने चाहिए।[5] उनको शूर-वीर और प्रियवादी होना चाहिए। यह हित के उपदेशक, क्लेशसहन में

१--कच्चिदात्म समाः शूराः श्रुतवन्ताजितेन्द्रियाः।
कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मंत्रिणः।। श्लोक १५ सर्ग १०० अयोध्याकाण्ड।।

२--सर्वेषांतु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता।
मंत्रयेत्परमं मंत्रं राजा षाड्गुण्य संयुतम् ।।श्लोक ५८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र।।

३--अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्रज्ञानवस्थितान्।
सम्यगर्थं समाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान् ।। श्लोक ६० अ० ७ मानव धर्मशास्त्र।।

४--जानपदोऽभिजातः स्ववग्रहः कृतशिल्पश्चक्षुष्मान्प्राज्ञो धारयिष्णुर्दक्षो वाग्मी प्रगल्भः प्रतिपत्तिमानुत्साहप्रभावयुक्तः क्लेशसहः शुचिर्मैत्रोदृढ़भक्तिः शील बलारोग्य सत्वसंयुक्तः स्तम्भचापल्यवर्जितः संप्रियो वैराणामकर्तेत्यमात्यसम्पत् ।। वार्ता १ अ० ६ अधि० १ अर्थशास्त्र।।

५--गुणशीलवृद्धान् × × × × ।। श्लोक ८ अ० २ शुक्रनीति।।

करके अग्नि को प्रज्वलित कर वृक्ष को भस्म कर देती है ठीक उसी प्रकार अननुरक्त मंत्री दूसरे मंत्रियों के साथ मिल कर राजा को दुखी किया करता है।[१] स्वामी (राजा) कभी क्रुद्ध होकर मंत्री को स्थान से च्युत करता है अथवा वचन से निन्दा करके पुनः उस पर प्रसन्न हुआ करता है।[२] परन्तु अनुरक्त मंत्री ही स्वामी के उन सब व्यवहारों का सहन कर सकता है। विरक्त मंत्री ऐसे व्यवहार को कभी भी सहन नहीं कर सकता।[३] इसलिये भीष्म विरक्त मंत्री को मंत्रिपरिषद् की सदस्यता से वहिष्कृत करने का आदेश देते हैं।

(इ) अमित्र-सेवी—वह व्यक्ति जो उन व्यक्तियों से सम्बन्ध रखता हो जो कि राजा के मित्र नहीं हैं मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के अयोग्य समझे जाते थे। यह नियम उचित ही है क्योंकि ऐसे व्यक्तियों का वास्तविक प्रेम राजा के अमित्रों में रहेगा इसलिए राजा के हित में उनका हित नहीं हो सकता। इसीलिए इस सिद्धान्त की स्थापना करते हुए भीष्म ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—जो मनुष्य राजा के अमित्रों से सम्बन्ध स्थापित कर पुरवासियों का आदर नहीं करते ऐसे मनुष्य शत्रु के समान समझने चाहिये। वह मंत्रणा सुनने योग्य नहीं है।[४]

(ई) अनुभवहीनता—मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए बहुत बड़े अनुभव की आवश्यकता होती है। अनुभव रहित व्यक्ति राजा को राज्य संचालन सम्बन्धी गम्भीर विषयों पर उचित परामर्श देने में सर्वथा असमर्थ रहेगा। इसलिए मंत्रिपरिषद् की सदस्यता शासन सम्बन्धी कार्यों के अनुभव रहित व्यक्ति को देना बड़ी भूल होगी। ऐसा व्यक्ति मंत्री के महान पद से सम्बन्धित कर्तव्यों का निर्वाह न कर सकेगा। इसी लिए भीष्म ने अनुभव रहित व्यक्ति को मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के अयोग्य घोषित किया है। वह इस विषय में कहते हैं—अल्पश्रुत (अनुभवहीन) मनुष्य उत्तम कुल में उत्पन्न होने और धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग में युक्त होने पर भी मंत्रणा की परीक्षा करने में समर्थ नहीं होता।[५] इसलिए मंत्रिपरिषद् के लिए भीष्म के मतानुसार वहुश्रुत होना अनिवार्य योग्यता मानी गयी है।

१—व्यथयेद्धि स राजानं मंत्रिभिः सहितोऽनृजुः।
मारुतोपहितच्छिद्रैः प्रविश्याग्निरिवद्रुमम्॥ श्लोक ३१ अ० ८३ शा० पर्व॥

२—संक्रुद्धश्चैकदा स्वामी स्थानाच्चैवापकर्षति।
वाचाक्षिपति संरब्धः पुनः पश्चात्प्रसीदति॥ श्लोक ३२ अ० ८३ शा० पर्व॥

३—तानि तान्यनुरक्तेन शक्यानिहि तितिक्षितुम्।
मंत्रिणां च भवेत्क्रोधो विस्फूर्जितमिवाशनेः॥ श्लोक ३३ अ० ८३ शा० पर्व॥

४—योऽमित्रैः सह संबद्धो न पौरान्बहुमन्यते।
असुहृत्तादृशो ज्ञेयो न मंत्रं श्रोतुमर्हति॥ श्लोक ३७ अ० ८३ शा० पर्व॥

५—एवमल्पश्रुतो मंत्री कल्याणाभिजनोऽप्युत।
धर्मार्थकामसंयुक्तो नालं मंत्रं परीक्षितुम्॥ श्लोक २६ अ० ८३ शा० पर्व॥

(उ) अस्थिर संकल्पयुक्त व्यक्ति—वह व्यक्ति जिसके संकल्प में स्थिरता नहीं होती क्षण-क्षण पर अपना मत परिवर्तन करता रहता है। ऐसा व्यक्ति किसी निश्चित निष्कर्ष या निर्णय पर पहुँच नहीं सकता। इसलिए ऐसा व्यक्ति मंत्रणा योग्य नहीं माना जा सकता। इसीलिए भीष्म ने इस प्रकार की स्पष्ट व्यवस्था दी है। वह इस प्रकार की व्यवस्था देते हुए कहते हैं— अस्थिर संकल्प वाला पुरुष बुद्धिमान शास्त्रवित और उपायों का ज्ञाता होने पर भी बहुत समय तक कार्य सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता।[१] अस्थिर संकल्प व्यक्ति के परामर्श पर आस्था रखना बहुत बड़ी भूल होगी।

(ऊ) कुटिल स्वभाव युक्त व्यक्ति—मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए वह व्यक्ति जो कि सरल स्वभाव का न हो परन्तु उसमें कुटिलता हो, अनुपयुक्त समझा गया है। कुटिल स्वभाव व्यक्ति स्पष्टवादिता गुण से रहित होने के कारण कपटाचरण धारण करेगा जो मंत्रणा के लिए उचित नहीं है। इसी लिए भीष्म ने उस मनुष्य को जिसमें ऋजुता नहीं है मंत्रिपरिषद् की सदस्यता से वंचित रखने की व्यवस्था दी है। इस विषय में वह आदेश देते हैं— ऋजुता रहित मनुष्य अन्य गुणो से युक्त होने पर भी राजा की मंत्रणा सुनने के अधिकारी नहीं होते।[२]

(ए) पापाचारी का पुत्र— पिता के आचरण एवं स्वभाव का प्रभाव पुत्र के आचरण एवं स्वभाव पर अवश्य पड़ता है। इसलिए पापाचरण धारी व्यक्ति के पुत्र के आचरण की शुद्धता में सन्देह ही रहेगा। ऐसी दशा में ऐसे व्यक्तियों को मंत्रि-परिषद् की सदस्यता से वहिष्कृत रखना उचित ही होगा। ऐसे ही विचारों से प्रेरित होकर भीष्म ने यह आदेश दिया है— जिसका पिता अधर्म आचरण के वश में होकर कुस्वभाव से युक्त हुआ है वह पुरुष सत्कृत प्रमाणित होने पर भी मंत्र सुनने के योग्य नहीं हो सकता।[३] इस प्रकार पापाचारी व्यक्ति के पुत्र को मंत्रिपरिषद् का सदस्य बनाना वर्जित था।

(ऐ) कुछ अन्य अयोग्यताएँ—भीष्म का मत है कि मूर्ख, अपवित्र, स्तब्ध, शत्रुप्रेमी, आत्मप्रशंसा करनेवाला, क्रोधी, और लोभी यह सब मंत्रिपद से दूर रखने चाहिए। इसीलिए उन्होंने यह व्यवस्था दी है— मूर्ख (अविद्वान), अपवित्र, जड़ (स्तब्ध), शत्रु से प्रेम रखने वाले, अपने मुख अपनी बड़ाई करने वाले, अमित्र,

---

१—योवाप्यस्थिरसंकल्पो बुद्धिमानागतागमः।
उपायज्ञोऽपि नालं स कर्मप्रापयितुं चिरम्॥ श्लोक २८ अ० ८३ शा० पर्व॥

२—अनृजुस्त्वनुरक्तोऽपि सम्पन्नश्चेतरैर्गुणैः।
राज्ञः प्रज्ञानयुक्तोऽपि न मंत्रं श्रोतुमर्हति॥ श्लोक ३५ अ० ८३ शा० पर्व॥

३—विधर्मतो विप्रकृतः पिता यस्याभवत्पुरा।
सत्कृतः स्थापितः सोऽपि न मंत्रं श्रोतुमर्हति॥ श्लोक ३६ अ० ८३ शा० पर्व॥

क्रोधी, लोभी यह सब मंत्र सुनने के सर्वथा अनधिकारी होते हैं।[1] जो पुरुष तेज रहित मित्र के साथ सम्बन्ध रखता है वह कभी कर्त्तव्याकर्त्तव्य विषय का निश्चय करने में समर्थ नहीं होता किन्तु समस्त कार्यों में संशय उत्पन्न किया करता है इसलिए राजा को ऐसे मनुष्य को अपना मंत्री नहीं बनाना चाहिए।[2]

इस प्रकार भीष्म ने जहाँ मंत्रिपद प्राप्ति हेतु कतिपय योग्यताओं एवं गुणों का विधान किया है वहीं उन्होंने इसके विरुद्ध उन अयोग्यताओं की ओर भी संकेत किया है जिनके कारण मनुष्य को मंत्रिपरिषद् की सदस्यता से वंचित रखना चाहिए।

मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या— मंत्रिपरिषद् के निर्माण का मुख्य उद्देश्य राजा को राज्य-संचालन हेतु शासन सम्बन्धी समस्त विषयों मे सत्मंत्रणा की प्राप्ति है। शासन सम्बन्धी सभी विषयों का समुचित ज्ञान केवल एक ही व्यक्ति को प्राप्त हो ऐसा सम्भव नहीं। इसीलिए भीष्म ने यह स्पष्ट व्यवस्था दी है कि राजा के मंत्री अनेक गुणों के धारण करने वाले होने चाहिए, उनको अनेक विषयों के ज्ञाता होना चाहिए। परन्तु यह सम्भव नहीं कि एक विशेष व्यक्ति में यह समस्त गुण विद्यमान हों।[3] ऐसी परिस्थिति में विभिन्न विषयों के अनेक विशेषज्ञों से राजा को परामर्श करने की आवश्यकता होगी। परन्तु शासन सम्बन्धी महान कार्य में ऐसे व्यक्तियों की हर समय आवश्यकता होती रहती है। अतः राजा को ऐसे अनेक व्यक्तियों को अपने समीप रखना चाहिए। इस प्रकार राजा को मंत्रणा के लिए एक परिषद् की आवश्यकता होगी जिसमें अनेक विषयों के ज्ञाता इसके सदस्य होंगे। परन्तु इस परिषद् में कितने सदस्य होने चाहिए इस विषय में प्राचीन भारत के राज-शास्त्र प्रणेताओं में कभी भी एक मत नहीं रहा है।

मंत्रिपरिषद् के निर्माण के सिद्धान्त के विषय में भीष्म का ऐसा मत प्रतीत होता है कि वह मंत्रिपरिषद् में चारो वर्गों के प्रतिनिधियों को स्थान देना उचित समझते थे। इसीलिए उन्होंने मंत्रिपरिषद् में सैंतीस सदस्यों के रखने का विधान करते हुए यह आदेश दिया है कि यह सदस्य चारों वर्णो के अलग-अलग व्यक्ति होने चाहिए। इस विषय में वह यह व्यवस्था देते हैं कि मंत्रिपरिषद में वेद के ज्ञाता प्रगल्भ, पवित्र आचरण धारी चार ब्राह्मण स्नातक, हाथ में शस्त्र धारण करनेवाले बल-वान आठ क्षत्रिय, वित्तयुक्त इक्कीस वैश्य, नित्य अपने कर्त्तव्य में रत पवित्र और विनीत तीन शूद्र; और आठ गुणों (सेवा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊहन, उपोहन, विज्ञान, और तत्वज्ञान) से युक्त प्रगल्भ, अनसूचक, पचास वर्षीय श्रुति और स्मृति से युक्त

१—अविद्वानशुचिः स्तब्धः शत्रुसेवी विकत्थनः।
अमुहृत्क्रोधनो लुब्धो न मंत्रं श्रोतुमर्हति॥ श्लोक ३७ अ० ८३ शा० पर्व॥

२—हीनतेजोऽभिसंसृष्टो नैव जातु व्यवस्यति।
अवश्यं च नयत्येव सर्वकर्मसु संशयम्॥ श्लोक २५ अ० ८३ शा० पर्व॥

३—दुर्लभः पुरुषः कश्चिदेभिर्युक्तो गुणैः शुभैः॥ श्लोक ५ अ० ८५ शा० पर्व॥

विनीत, समदर्शी, कार्य में विवदमान पुरुषों के बीच समर्थ, सात प्रकार के घोर व्यसन रहित पौराणिक एक सूत यह सैंतीस सदस्य होने चाहिए।[१]

इस प्रकार भीष्म ने मंत्रिपरिषद् में सैंतीस सदस्यों के रखने का विधान किया है। इस विषय में एक विशेष बात यह है कि उन्होंने मंत्रिपरिषद् का निर्माण चारों वर्णों के प्रतिनिधित्व के सिद्धांत के आधार पर किए जाने का आदेश दिया है। प्राचीन भारत के अन्य राजशास्त्र-प्रणेताओं में से किसी ने भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इतना स्पष्ट नहीं किया है जितना कि भीष्म के द्वारा किया गया है। इस विषय में दूसरी विशेष बात यह है कि भीष्म ने मंत्रिपरिषद् में वैश्य वर्ण के सदस्यों की संख्या अन्य वर्णों के सदस्यों की अपेक्षा बहुत बड़ी निर्धारित की है। इसका यह कारण हो सकता है कि हिन्दू समाज के भरण-पोषण का भार वैश्य वर्ण पर ही था। कृषि, पशु-पालन और धन के लेन-देन का सारा कार्य इसी वर्ण के हाथ में था और यही तीन व्यवसाय हिन्दू समाज के आर्थिक जीवन के आधार थे। इसलिए राज्य के शासन की मुख्य शाखा में वैश्य वर्ण का प्रतिनिधित्व इस मात्रा में होना न्यायसंगत ही था।

मंत्रि परिषद् के सदस्यों की संख्या के विषय में प्राचीन भारत के कतिपय राज-शास्त्र-प्रणेताओं ने अपना मत दिया है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में कुछ राजशास्त्र-प्रणेताओं के मत देते हुए लिखा है— मनु के अनुयायियों ने मंत्रिपरिषद् में बारह सदस्य रखने की व्यवस्था दी है।[२] बृहस्पति के अनुयायियों के अनुसार सोलह[३] और शुक्राचार्य के अनुयायियों के अनुसार मंत्रिपरिषद् में बीस सदस्य होने चाहिए।[४] परन्तु कौटिल्य अपना मत देते हुए कहते हैं—मेरे मत से समय और आवश्य-कतानुसार मंत्रिपरिषद् में सदस्य होने चाहिए।[५] मानवधर्मशास्त्र में सात या आठ

१—चतुरोब्राह्मणान्वैद्यान्प्रगलभान्स्नातकान्शुचीन्।
क्षत्रियांश्च तथा चाष्टौ बलिनः शस्त्रपाणिनः॥ श्लोक ७ अ० ८५ शा० पर्व॥
वैश्यान्वित्तेन सम्पन्नानेकविंशतिसंख्यया।
त्रींश्च शूद्रान्विनीतांश्च शुचीन्कर्मणि पूर्वके॥ श्लोक ८ अ० ८५ शा० पर्व॥
अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं सूतं पौराणिकं तथा।
पञ्चाशद्वर्षवयसं प्रगल्भमनसूयकम्॥ श्लोक ९ अ० ८५ शा० पर्व॥
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तं विनीतं समदर्शिनम्।
कार्येविवदमानानां शक्तमर्थेष्व लोलुपम्॥ श्लोक १० अ० ८५ शा० पर्व॥
वर्जितम् चैव व्यसनैः सुघोरैः सप्तभिर्भृशम्॥ श्लोक ११ अ० ८५ शा० पर्व॥

२—मंत्रिपरिषदं द्वादशामात्यान्कुर्वीतेति मानवाः॥ वार्ता ५३ अ० १५ अधि० १ अर्थ०॥

३—षोडशेति बार्हस्पत्याः॥ वार्ता ५४ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र॥

४—विंशतिमित्यौशनसाः॥ वार्ता ५५ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र॥

५—यथासामार्थ्यमिति कौटल्यः॥ वार्ता ५६ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र॥

मंत्रियों के रखने की व्यवस्था दी गयी है।[१] बालमीकीय रामायण में भी जो वर्णन है उससे विदित होता है कि राजा दशरथ की मंत्रि परिषद् में आठ सदस्य थे।[२] शुक्रनीति में राजा को मिलाकर ग्यारह या नौ सदस्यों की मंत्रिपरिषद् के निर्माण का आदेश दिया गया है।[३]

इस प्रकार मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की सबसे बड़ी संख्या भीष्म ने निर्धारित की है।

मंत्रिपरिषद् की अन्तरंग समिति—भीष्म ने राजा की मंत्रिपरिषद् म सैंतीस सदस्यों की नियुक्ति की व्यवस्था दी है। परन्तु इतनी बड़ी परिषद् के लिए राज्य के महत्त्वपूर्ण बिषयों के रहस्यों को गुप्त रखना एवं शासन कार्य के संचालन में विशेष कौशल का रहना असम्भव है। इस विषय को भीष्म ने भली भांति समझ लिया था। इसलिए उन्होने इस गहन समस्या का सुलझाना आवश्यक समझा। भीष्म ने इस गहन समस्या को सुलझाने के निमित्त यह उचित समझा कि राजा को मंत्रिपरिषद् के सदस्यों में से सर्वश्रेष्ठ आठ सदस्यों की एक समिति का निर्माण कर लेना चाहिए। इस प्रकार बड़ी मंत्रिपरिषद् में से आठ सर्वश्रेष्ठ सदस्यों की समिति बनाने का विधान उन्होंने किया है।[४]

भीष्म ने इस विषय का कहीं भी वर्णन नहीं किया है कि यह आठ मंत्री किस प्रकार बड़ी परिषद् से नियुक्त किए जाने चाहिए तथा इनके क्या अधिकार एवं कर्त्तव्य होने चाहिए। इस लिए इस विषय पर कुछ भी लिखा नहीं जा सकता। केवल इतना ही दिया गया है कि बड़ी परिषद् के सैंतीस सदस्यों को अमात्य के नाम से सम्बोधित किया गया है।[५] परन्तु इन आठ सदस्यों को मंत्री की उपाधि दी गयी है। इससे विदित होता है कि मंत्रणा का विशेष अधिकार इसी अन्तरंग समिति को रहा होगा।

परम अन्तरंग समिति— भीष्म अन्तरंग समिति से भी एक परम अन्तरंग समिति के निर्माण के पक्ष में थे। उनका कहना है कि राजा को सर्वगुण सम्पन्न पूजनीय सर्वश्रेष्ठ कम से कम तीन मंत्रियों को परम अन्तरंग नाम की एक समिति रखनी चाहिए।[६] यह तीन मंत्री राजा के वास्तविक अन्तरंग मंत्री होने चाहिए।

१—सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ।।श्लोक ५४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र।।

२—अष्टौ बभूवुर्वीरस्यामात्या: ।। श्लोक २ अध्याय ७ बालकाण्ड ।।

३— + + + इत्येताराज्ञः प्रकृतयोदश ।। श्लोक ७० अ० २ शुक्रनीति ।।

अष्ट प्रकृतिभिर्युक्थोनृपः कैश्चित्स्मृतः सदा ।। श्लोक ७१ अ० २ शुक्रनीति ।।

४—अष्टानां मंत्रिणां मध्ये मंत्रं राजोपधारयेत् ।। श्लोक ११ अ० ८५ शा० पर्व ।।

५—वक्ष्यामि तु यथाऽमात्यान् यादृशांश्च करिष्यसि ।। श्लोक ६ अ० ८५ शा० पर्व।।

६—तस्मात्सर्वैर्गुणैरेतैरुपपन्नाः सपूजिताः ।

मंत्रिणः प्रतिज्ञाः स्युस्त्र्यवरा महदीप्सवः ।। श्लोक ४७ अ० ८३ शा० पर्व ।।

राजा की महत्त्वपूर्ण मंत्रण का समस्त भार इसी परम अन्तरंग समिति पर निर्भर होना चाहिए। भीष्म का मत है कि राजा को इस परम अन्तरंग समिति के मंत्रियों से हर समय परामर्श करते रहना चाहिए। शासन सम्बन्धी गहन समस्याओं पर इन मंत्रियों के मध्य भली भांति विवेचना कर कार्य का निर्णय करना चाहिए।[1]

भीष्म के इस मत की सम्पुष्टि बालमीकीय रामायण में भी की गयी है। रामायण के अयोध्या काण्ड में यह बतलाया गया है कि राजा के तीन या चार मंत्री होने चाहिए जिनसे वह राज्य-शासन सम्बन्धी कार्यों में हर समय मंत्रणा ले सके।[2] इन तीन या चार मंत्रियों से शासन सम्बन्धी प्रत्येक विषय में प्रथक-प्रथक अथवा संयुक्त मंत्रणा लेना राजा का कर्त्तव्य बतलाया गया है।[3]

मनु ने आठ मंत्रियों की समिति में से केवल एक सर्वश्रेष्ठ मंत्री को इस पद के निमित्त वरण किया जाना उचित समझा है। वह मानवधर्मशास्त्र में यह व्यवस्था देते हैं—उन सब (सात या आठ) मंत्रियों में से सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण मंत्री के साथ राजा को मंत्रणा करनी चाहिए।[4] इस प्रकार मनु भी किसी अंश तक मंत्रियों की परम अन्तरंग समिति के निर्माण के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं।

कौटिल्य मनु के मत से सहमत नहीं हैं। इस विषय में उनका मत इस प्रकार है - जो राजा एक ही मंत्री के साथ मंत्रणा करता है मत भेद के स्थानों में उसको वास्तविक मंत्र का निश्चय नहीं हो सकता। यदि राजा ने एक ही मंत्री मंत्रणा हेतु नियुक्त किया है तो वह अपनी इच्छानुसार बिना किसी सोच विचार के उच्छृंखल नीति से भी चल सकता है।[5] जो राजा शासन सम्बन्धी विषयों में दो मंत्रियों के मध्य में मंत्रणा करता है वह भी उचित नहीं है। यदि दोनों मंत्री मिल जाएँ तो मंत्र उचित रूप से सिद्ध नहीं हो सकता। दो व्यक्तियों का पारस्परिक मिल जाना बहुत सम्भव है।[6] यदि दोनों मंत्रियों में मत भेद या अनबन हो जाए तो किसी विषय का निर्णय ही न हो सकेगा और कार्य का सर्वथा नाश हो जाएगा।[7] यदि तीन या चार

१—तेषां त्रयाणां विविधं विमर्शं विबुद्ध्यचित्तं विनिवेश्य तत्र ॥
श्लोक ५३ अ० ८३ शा० पर्व ॥

२—मंत्रिभिस्त्वं यथोदिष्टं चतुर्भिस्त्रिभिरेव वा ॥ श्लोक ७१ सर्ग १०० अयोध्या०॥

३—कच्चित्समस्तैर्व्यस्तैश्च मंत्रं मंत्रयसे बुधाः ॥ श्लोक १७ सर्ग १०० अयोध्या० ॥

४—सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ।
मंत्रयेत्परमं मंत्रं राजा षाड्गुण्य संयुतम् ॥ श्लोक ५८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

५—मंत्रयमाणो ह्येकेनार्थ कृच्छ्रेषु निश्चयं नाधिगच्छेत् ॥
वार्ता ३८ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

एकश्चमंत्री यथेष्टमनवग्रहश्चरति ॥ वार्ता ३९ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—द्वाभ्यां मंत्रयमाणो द्वाभ्यां संहताभ्यामवगृह्यते ॥
वार्ता ४० अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—विगृहीताभ्यां विनाश्यते ॥ वार्ता ४१ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

मंत्री हों तो इस प्रकार अनर्थ के आने की बहुत ही कम सम्भावना होती है। कार्य ठीक-ठीक चलता रहता है ऐसा ही देखा गया है।[1] यदि चार से अधिक मंत्री नियुक्त किए गए तो किसी भी विषय में निश्चय पर पहुँचना कठिन हो जाता है और मंत्र की रक्षा भी नहीं हो सकती।[2]

इस प्रकार कौटिल्य ने भी परम अन्तरंग समिति के निर्माण का समर्थन किया है। इस दृष्टि से कौटिल्य और भीष्म में एक मत है।

मंत्रगुप्ति और कार्य कौशल— भीष्म ने मंत्रिपरिषद् के अन्तर्गत अन्तरंग समिति एवं उसके उपरान्त परम अन्तरंग समिति के निर्माण की व्यवस्था इस उद्देश्य से की है कि मंत्र गुप्त रह सके और शासन कार्य में सुचारुता आ सके। शासन सम्बन्धी प्रत्येक विषय पर मंत्रिपरिषद् के प्रत्येक सदस्य से सदैव परामर्श लेना न तो सम्भव ही है और न उचित ही। मंत्रिपरिषद् के प्रत्येक सदस्य से प्रत्येक विषय में परामर्श लेने से व्यर्थ के लम्बे वाद-विवाद में समय नष्ट होता है और कार्य संचालन में बाधा उपस्थित होती है। पिशुनाचार्य के मत की आलोचना करते हुए कौटिल्य ने ठीक ही लिखा है—यदि प्रत्येक विषय के अध्यक्ष के साथ मंत्रणा की जाएगी तो मंत्रणा कहां तक लम्बी की जाए। ऐसा करने से अव्यवस्था हो जाएगी। अतः तीन या चार मंत्रियों के साथ राजा को मंत्रणा करनी चाहिए।[3]

भीष्म इस विषय में कौटिल्य के इस मत से सहमत हैं। वह यह मानते हैं कि बड़ी संख्या वाली मंत्रिपरिषद् के मध्य की गयी मंत्रणा गुप्त नहीं रह सकती। उनका विश्वास है कि मंत्र गुप्त रहना चाहिए।[4] मंत्रियों के द्वारा दी गयी उत्तम मंत्रणा पर ही राज्य का जीवन स्थिर होता है।[5] इसी के आश्रय राजा लोक-कल्याण के महान भार को धारण करने में समर्थ होता है। मंत्रियों के द्वारा निश्चित किया गया मंत्र तब तक गुप्त रहना चाहिए जब तक कि उसको क्रियात्मक रूप न दे दिया जाए। अवसर के प्राप्त होने पर ही मंत्र का भेद खुलना चाहिए। मंत्रियों को मंत्रगुप्ति के निमित्त कछुए का अनुसरण करना चाहिए।[6] कछुआ अपने अंगों को गुप्त रखता है। वह अपने अंगो को केवल आवश्यकता पड़ने पर प्रकाशित करता है।

१—त्रिषु चतुर्षु वा नैकान्तं कृच्छ्रेणोपपद्यते महादोषं ॥
वार्ता ४२ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥
उपपन्नं तु भवति ॥ वार्ता ४३ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—ततः परेषु कृच्छ्रेणार्थनिश्चयो गम्यते ॥ वार्ता ४४ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥
मंत्रो वा रक्ष्यते ॥ वार्ता ४५ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—नेति कौटिल्यः ॥ वार्ता ३५ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥
अनवस्थाह्येषा ॥ वार्ता ३६ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥
मंत्रिभिस्त्रिभिश्चतुर्भिर्वासह मंत्रयेत् ॥ वार्ता ३७ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—नास्यच्छिद्रं परः पश्येत् ॥ श्लोक ४९ अ० ८३ शा० पर्व ॥

५—मंत्रिणां मंत्र मूलं हि राज्ञो राष्ट्रं विवर्द्धते ॥ श्लोक ४८ अ० ८३ शा० पर्व ॥

६—गूहेत्कूर्म इव अंगानि ॥ श्लोक ४९ अ० ८३ शा० पर्व ॥

इसलिए मंत्र-गुप्ति एवं कार्यकुशलता दोनों की दृष्टि से मंत्रिपरिषद् से अन्तरंग-समिति और अन्तरंग समिति से परमअन्तरंग समिति का निर्माण किया जाना युक्ति-संगत ही है। आधुनिक काल में भी लगभग इसी प्रणाली का इंगलैण्ड जैसे राज्यों में अनुसरण किया जाता है। भीष्म के मत से यह प्रणाली कल्याणप्रद मानी गयी है। उनके द्वारा निर्धारित मंत्रिपरिषद् में राज्य के चोटी के व्यक्ति सदस्य होने चाहिए। इन चोटी के व्यक्तियों में से सात या आठ सर्व श्रेष्ठ सदस्यों को चुनकर अन्तरंग समिति का निर्माण किया जाना चाहिए। फिर इन सात या आठ श्रेष्ठ सदस्यों में से तीन या चार श्रेष्ठतम सदस्यों की एक परमअन्तरंग समिति का निर्माण होना चाहिए। इस प्रकार राजा को राज्य के श्रेष्ठतम राजनीतिज्ञ पुरुषों से राज्य-संचालन में हर समय परामर्श करने का अवसर प्राप्त होना चाहिए।

भीष्म ने इस प्रकार मंत्रिपरिषद् की बड़ी परिषद् से छोटी समितियों का क्रमानुसर निर्माण करने और उनसे शासन सम्बन्धी विषयों में मंत्रणा लेने और उस मंत्रणा के अनुसार आचरण करने से शासन कार्यों में सुचारुता एवं कुशलता लाने तथा राज्य के रहस्यों को गुप्त रखने के लिए उत्तम साधन समझा है। इस प्रणाली के अपनाने से राजा को हर समय राज्य के उत्तम मंत्रियों से शासन सम्बन्धी विषयों पर परामर्श करने का अवसर मिल सकेगा। इतना ही नहीं वरन अन्त में इन मंत्रियों के निर्णय एवं राजा का स्वयं अपना निर्णय राजगुरु के समक्ष उसकी सम्मति के निमित्त प्रस्तुत किया जाना उचित समझा गया है।[1] राजगुरु - राज्य का योग्यतम एवं महान आचारधारी व्यक्ति होना चाहिए ऐसा भीष्म का मत है।

कार्य-प्रणाली——भीष्म का मत है कि परमअन्तरंग समिति के सदस्य ही राजा के वास्तविक मंत्री होंगे और इन सदस्यों का राजा से घनिष्ट सम्बन्ध रहेगा। इन सदस्यों से परामर्श किए बिना राजा को शासन सम्बन्धी कोई भी योजना कार्यान्वित किये जाने का आदेश नहीं देना चाहिए। परमअन्तरंग समिति का प्रधान राजा को होना चाहिए। राजा को इन मंत्रियों से संयुक्त दोनों प्रकार से मंत्रणा करने का अधिकार होना चाहिए। राज्य के अत्यन्त गोपनीय एवं महत्त्वपूर्ण विषय इस समिति के समक्ष प्रस्तुत करने चाहिए। प्रत्येक विषय पर जो कि इस समिति के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत किया जाए विशद विवेचना की जानी चाहिए ऐसा भीष्म का मत है।[2] मंत्रियों के सामूहिक एवं उनके व्यक्तिगत निर्णय तथा राजा का स्वयं अपना निर्णय राजगुरु के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए। राजगुरु के निर्णय को

१——स्वनिश्चयं तत्प्रतिनिश्चयज्ञं निवेदयेदुत्तरमंत्रकाले ।।श्लोक ५३ अ० ८३ शा०पर्व।।
धर्मार्थकामज्ञमुपेत्य पृच्छेद्युक्तो गुरुं ब्राह्मणमुत्तरार्थम् ।।
श्लोक ५४ अ० ८३ शा० पर्व ।।

२——तेषां त्रयाणां विविधविमर्शं विबुद्ध्यचित्तं विनिवेश्य तत्र ।।
श्लोक ५३ अ० ८३ शा० पर्व ।।

लेकर राजा को उस अन्तिम निर्णय को मंत्रिपरिषद् की स्वीकृति हेतु प्रस्तुत करना चाहिए।

भीष्म ने मंत्रियों की अन्तरंग समितियों की बैठक का कैसा स्थान होना चाहिए इस विषय पर भी अपना मत प्रकट किया है। उनका इस विषय में यह मत है —इस समिति की बैठक खुले मैदान में अथवा राजभवन के ऊपरी खण्ड में होनी चाहिए। यदि खुले स्थान में बैठक की जाय तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मंत्रणा स्थल के समीप लम्बी घास, झाड़ियाँ, वृक्ष या अन्य ऐसे स्थान जहाँ मनुष्य छिप कर बैठ सके और गुप्त मंत्रणा जान लेने में समर्थ हो सके नहीं होने चाहिए। वह स्थान जन साधारण की पहुँच से परे होना चाहिए। गूँगे, बहरे, नपुंसक तथा ऐसे ही अन्य व्यक्तियों को इस स्थान के समीप आने की आज्ञा नहीं मिलनी चाहिए।[1] राजा और उसके मंत्रियों के मध्य जिस स्थान पर मंत्रणा की जा रही हो वहाँ पक्षियों को भी न आने दिया जाय। वाद-विवाद इतना शान्तरूप से होना चाहिए कि बाहरी कोई भी व्यक्ति उसको सुन न सके।[2]

मंत्र-गुप्ति से राज्य का परम कल्याण होता है। भीष्म के इस मत की पुष्टि करते हुए कौटिल्य भी उन्हीं की युक्ति को दुहराते हुए कहते हैं--राजा को मंत्र इस प्रकार गुप्त रखना चाहिए जैसे कछुआ अपने अंगः को छिपाए रहता है।[3]

मंत्रिपरिषद् की इस छोटी समिति से ऊपर सात या आठ सदस्यों की अन्तरंग समिति होनी चाहिए। इस अन्तरंग समिति का उद्देश्य शासन कार्य का संचालन माना गया है। भीष्म ने जो वर्णन इस समिति के विषय में दिया है उसके अनुसंधान पूर्वक अध्ययन करने से विदित होता है कि राज्य का समस्त शासन-कार्य विभिन्न शासन विषयों के अनुसार विभागों में विभक्त होना चाहिए और इनमें से प्रत्येक विभाग इस सात या आठ मंत्रियों की समिति के सदस्य के अधीन होना चाहिये। भीष्म ने इन मंत्रियों में से कुछ मंत्रियों के पदों की ओर संकेत करते हुए इन विभागों के कतिपय अधिकारी मंत्रियों की योग्यताओं का उल्लेख किया है जो इस विषय की पुष्टि करता है कि भीष्म विभाग प्रथा

१—आरुह्य वा वेश्म तथैव शून्यं स्थलं प्रकाशं कुशकाशहीनं।
वागङ्गदोषान्परिहृत्य सर्वान्सिन्मंत्रयेत्कार्यमहीनकालम्॥
श्लोक ५७ अ० ८३ शा० पर्व॥

न वामनाः कुब्जकृशा न खञ्जा नान्धो जडः स्त्री न नपुंसकं च॥
श्लोक ५६ अ० ८३ शा० पर्व॥

२—न चात्र तिर्यकश्च पुरो न पश्चान्नोर्ध्वं न चाधः प्रचरेत्कथञ्चित्॥
श्लोक ५६ अ० ८३ शा० पर्व॥

३—गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि यत्स्याद्विवृतमात्मनः॥
श्लोक ६५ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र॥

के पोषक थे। भीष्म ने दूत के लक्षण इस प्रकार दिए हैं—कुलीन कुलयुक्त वाग्मी, दक्ष, प्रियवचन बोलने वाला, यथोक्तवादी और स्मृतिमान मनुष्य को दूत बनाना चाहिए।[1] उन्होंने सन्धि-विग्रहिक नाम के मंत्री का उल्लेख करते हुए कहा है कि धर्मशास्त्र का विशेष ज्ञाता सन्धिविग्रहिक होता है।[2] वह अमात्य नाम के एक विशेष मंत्री की ओर संकेत करते हुए बतलाते हैं कि बुद्धिमान, धैर्यशाली, लज्जाशील, रहस्य युक्त विषयों को गोपन करनेवाले, कुलीन तथा पराक्रमशील व्यक्ति को अमात्य बनाना चाहिए।[3] सेनापति के लिए भी यही योग्यताएं भीष्म ने निर्धारित की हैं।[4]

सात या आठ मंत्रियों की इस समिति के ऊपर सैंतीस सदस्यों की मंत्रिपरिषद् भीष्म के मतानुसार होनी चाहिए। इस परिषद् का महत्त्व महान था। यह परिषद् अपने अन्तर्गत सात या आठ मंत्रियों की अन्तरंग समिति एवं तीन सदस्यों की परमअन्तरंग समिति पर नियंत्रण हेतु रहती होगी और इन समितियों द्वारा शासन सम्बन्धी निर्णयों की स्वीकृति देती होगी। सैंतीस सदस्यों का मंत्रिपरिषद् की कब बैठक की जाए इस विषय में भीष्म ने किसी प्रकार का विशेष उल्लेख नहीं किया है। अतः इस विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। मंत्रिपरिषद् के बुलाए जाने के विषय में कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में एक प्रसंग में अवश्य ऐसा कहा है कि शासन सम्बन्धी गहन समस्या के उपस्थित होने पर राजा को मंत्रिपरिषद् को बुलाना चाहिए। मंत्रिपरिषद् की बैठक में इस समय अधिकांश सदस्य जिस विषय की पुष्टि करें उसी कार्य के कार्यान्वित करने का उपाय करना चाहिए।[5]

इस प्रकार मंत्रिपरिषद् अपनी छोटी समितियों के द्वारा राजा को श्रेष्ठ मंत्रणा देकर उसका पथप्रदर्शन करती थी। साथ ही राजा के समस्त दैनिक कार्यों की देख-रेख कर उसके स्वेच्छापूर्ण कार्य-क्षेत्र पर नियंत्रण रखती थी। राजा को अपने स्वतंत्र विचारों को कार्यान्वित करने में स्वच्छन्दता न थी। उसको मंत्रिपरिषद् द्वारा किए गए निर्णय के अनुसार आचरण करना पड़ता था। मंत्रिपरिषद् राजा के हाथ का शस्त्र मात्र न थी वरन वह राज्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग थी जिसके बिना राजा असहाय था और शासन कार्य में असमर्थ रहता था।

१—कुलीनः कुलसम्पन्नो वाग्मी दक्ष प्रियंवदः।
यथोक्तवादी स्मृतिमान्दूतः स्यात्सप्तभिर्गुणैः॥ श्लोक २८ अ० ८५ शा० पर्व॥

२—धर्मशास्त्रार्थतत्वज्ञः संधिविग्रहिणो भवेत्॥ श्लोक ३० अ० ८५ शा० पर्व॥

३—मतिमान्धृतिमान् ह्रीमान् रहस्यविनिगूहिता॥ श्लोक ३० अ० ८५ शा० पर्व॥
कुलीनः सत्वसम्पन्नः शुक्लोऽमात्यः प्रशस्यते॥ श्लोक ३१ अ० ८५ शा० पर्व॥

४—एतैरेव गुणैर्युक्तस्तथा सेनापतिर्भवेत्॥ श्लोक ३१ अ० ८५ शा० पर्व॥

५—आत्यायिके कार्ये मंत्रिणो मंत्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात्।
तत्र यद्भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत्कुर्यात्॥
वार्ता ६३—६४ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र॥

चतुर्थ अध्याय

विधि

विधि का शासन--- प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के प्रमुख आचार्यों ने राज्य की सरकार के संघठन में पृथक्शक्तिकरण (Separation of powers) सिद्धान्त के अपनाने का प्रयत्न किया था। उन्होंने राज्य की सरकार के संघठन के निमित्त इस विषय में स्पष्ट व्यवस्था दी ह कि राज्य की सरकार के तीन मुख्य अंगो कार्यपालिका (Executive) न्यायपालिका (Judiciary) और विधिपालिका (Legislative) का कार्यक्षेत्र अलग-अलग निर्धारित करके प्रत्येक के अधिकारों को सीमित कर दिया जाए जिससे एक अंग दूसरे अंग पर अनधिकार चेष्टा करने का प्रयत्न न करने पाए और प्रत्येक अंग अपनी निर्धारित सीमा में ही रह कर अपने कर्त्तव्यों का पूर्णरूप से पालन कर सके। इस प्रणाली से राज्य की प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा सम्भव मानी गयी थी।

भीष्म भी प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के अन्य आचार्यों की भाँति इसी सिद्धान्त में अटूट निष्ठा रखते हैं। उन्होंने भी राज्य की सरकार के संघठन में इसी योजना को अपनाया है। परन्तु इस सिद्धान्त का अक्षरशः पालन होना जैसा कि अन्य आचार्यो के लिए असम्भव था उसी प्रकार भीष्म के मत से भी असम्भव माना गया है। यह जगत विख्यात है कि संयुक्त राज्य अमरीका में जनतंत्रात्मक राज्य के संस्थापकों का यह दृढ़ विश्वास था कि राज्य में व्यक्तिगत स्वतंत्रता की स्थायी रूप से रक्षा के लिए राज्य की सरकार के तीन अंगो--कार्यपालिका, न्यायपालिका, और विधिपालिका---का संघठन इसी सिद्धान्त के आधार पर ही किया जाना चाहिए। परन्तु वह भी इस सिद्धान्त का अक्षरशः पालन न कर सके। अपने नए राज्य की सरकार के संघठन में इस सिद्धान्त की आत्मा को जीवित रखने के लिए उनको प्रतिबन्ध और सन्तुलन (Checks and Balances) के सिद्धान्त का आश्रय लेना ही पड़ा। इस प्रकार यह स्पष्ट हैं कि राज्य की सरकार के तीनों अंगों---कार्यपालिका, न्यायपालिका और विधिपालिका का नितान्त पृथक् करना सिद्धान्त रूप में तो सत्य माना जा सकता है परन्तु उसको रचनात्मक रुप देना असम्भव हैं। इस लिए भीष्म द्वारा जिस सरकार के संघठन का प्रतिपादन किया गया है उसमें इस विषय की आशा रखना कि उसमें पृथक्शक्तिकरण सिद्धान्त (Principle of the separation of powers) का अक्षरशः पालन किया गया होगा बड़ी भूल होगी। भीष्म ने भी अपने आदर्श राज्य की सरकार के संघठन में प्रतिबन्ध और सन्तुलन (Checks and Balances) के नियम का आश्रय लेकर पृथक्शक्तिकरण सिद्धान्त की आत्मा को जीवित रखने का प्रयत्न किया है। परन्तु यहां पर यह कहना अत्यन्त आवश्यक हैं कि प्राचीन भारतीय

राज्यों में विधि-निर्माण क्षेत्र में पृथक्‌शक्तिकरण सिद्धान्त का अक्षरशः पालन हुआ है और यही बात भीष्म द्वारा प्रतिपादित राज्य की सरकार के संघठन में भी चरितार्थ होती है। भीष्म ने भी अपने आदर्श राज्य में विधिपालिका को कार्यपालिका एवं न्यायपालिका में से प्रत्येक के अनौचित प्रभाव से परे रखा है। उन्होंने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विधि-निर्माण करने की एक निराली योजना को अपनाया है और जो विश्व के किसी भी अन्य राज्य में पायी नहीं जाती, जिसका सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ है कि भीष्म के द्वारा प्रतिपादित राज्य में विधि-निर्माण कार्य स्वतंत्र एवं स्वच्छन्द रूप में हुआ है और इस स्वतंत्र एवं स्वच्छन्द वातावरण में जो विधि-निर्माण कार्य हुआ है उसने व्यक्ति की स्वतंत्रता के रक्षण कार्य का भली भांति निर्वाह किया है। इसके साथ ही इसका एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह भी हुआ है कि इस राज्य में विधि की प्रधानता स्थायी रूप से स्थिर हो गयी है। राज्य में एक साधारण से साधारण नागरिक से उच्चतम नागरिक तक के मस्तिष्क में विधि की प्रधानता की स्थायी छाप लग गयी थी जिसने राज्य के सर्वोच्च अधिकारी को भी विधि के नियंत्रण में जकड़ दिया था। इस प्रकार भीष्म ने जिस राज्य के निर्माण का प्रतिपादन किया हैं उसमें जनता की यह धारणा बन चुकी थी कि उनके ऊपर व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह का शासन नहीं था वह विधि द्वारा शासित किए जा रहे थे, और जो राज्य के प्रत्येक नागरिक के लिए समान रूप से लागू किए जाते थे। इन विधियों के समक्ष ऊंच-नीच, धनी-निर्धनी, छोटे-बड़े, आदि का भेद-भाव न था। इस प्रकार भीष्म ने अपने आदर्श राज्य में विधि के शासन के सिद्धान्त को स्थापित किए जाने की स्पष्ट व्यवस्था दी है, और जिस पर उन्होंने बहुत बड़ा महत्त्व दिया है।

भीष्म द्वारा प्रतिपादित विधि-निर्माण-योजना—राज्य के नागरिकों में कर्तव्यों एवं अधिकारों की व्यवस्था विधिवत संचालित रहे इस उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त इस सिद्धान्त का पालन किया जाना अनिवार्य है कि नागरिकों के अधिकारों एवं कर्तव्यों के क्षेत्र को विधियों द्वारा स्पष्ट कर उनके बीच में स्पष्ट विभाजक रेखा खींच देनी चाहिए जिससे एक नागरिक अथवा नागरिकों का एक वर्ग दूसरे नागरिक अथवा वर्ग के कर्तव्यों एवं अधिकारों के क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व न जमा सके और प्रत्येक नागरिक अपने कर्तव्यों का विधिवत पालन करता हुआ अपने अधिकारों के भोग करने का अवसर प्राप्त कर सके। इसी सिद्धान्त को अपने समक्ष रख कर प्रत्येक जनतंत्रात्मक राज्य में विधि निर्माण कार्य का सम्पादन होता है। इस प्रकार के राज्यों में शासक और शासित वर्ग स्वेच्छाचारी नहीं होने पाते। दोनों कोटि के लोगों को राज्य के विधियों के अनुसार अपने-अपने कर्तव्यों एवं अधिकारों की सीमा निर्धारित करनी पड़ती है। जिन राज्यों में शासक और शासित—सरकार और जनता—दोनों के द्वारा इस सिद्धान्त का पालन होता है उनमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा होती रहती है।

इसलिए प्रत्येक राज्य में मानव जाति की स्वतंत्रता की सबसे अधिक रक्षा का एक मात्र साधन विधि की प्रधानता होती है ।

परन्तु इस विषय में यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि इन विधियों का निर्माण निष्पक्ष एवं स्थिर बुद्धि वाले राग-द्वेष से परे और जिनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य प्राणिमात्र का कल्याण करना होता है ऐसे व्यक्तियों के द्वारा होना चाहिए । विधिनिर्माण कर्त्ताओं को न्यायपालिका और कार्यपालिका (Judiciary and Executive) के विकारमय प्रभावों से परे होना चाहिए । विधिनिर्माण करने के समय उनके मस्तिष्क स्पष्ट, पवित्र और स्थिर होने चाहिए । प्राचीन भारतीय परम्परा इसी प्रकार की रही है ।

भीष्म ने भी विधिनिर्माण की प्राचीन भारतीय परम्परा का ही आश्रय लेने का आदेश दिया है । इसी परम्परा के अनुसार उन्होंने विधिनिर्माण के कतिपय साधनों का उल्लेख किया है जिनका संक्षिप्त वर्णन यहां पर किया जाएगा ।

विधिनिर्माण के साधन--भीष्म ने विधिनिर्माण के कतिपय साधनों की ओर संकेत किया है । इन साधनों में लोकसम्मत, दैवी, ऋषिमुनियों द्वारा निर्मित, और स्थानीय संस्थाओं द्वारा निर्माण किए जाने वाले आदि मुख्य साधन माने गए हैं ।

(क) विधिनिर्माण का लोकसम्मत साधन--भीष्म महाभारत के शान्ति पर्व में कतिपय ऐसे विधियों के निर्माण की ओर संकेत करते हैं जिनका निर्माण जनता ने एकत्र होकर स्वयं किया था । इस प्रसंग में वह प्राचीन काल का इतिहास देते हुए बतलाते हैं कि राज्य और राजा की परिपाटी प्रचलित होने के पूर्व लोगों ने अपने जीवन सम्बन्धी कतिपय विधियों का निर्माण किया था । वह इस प्रसंग का वर्णन राजा युधिष्ठिर से इस प्रकार करते हैं-- हमने यह सुना भी है कि पूर्व काल में राष्ट्र का कोई राजा न था । उस समय प्रजा नष्ट होती रहती थी । लोग परस्पर एक दूसरे को इस प्रकार नष्ट करते रहते थे जिस प्रकार जलाशय में बड़े मत्स्य कृश मछलियों को खा कर नष्ट करते रहते हैं । इस प्रकार उनका जीवन अत्यन्त यातनामय व्यतीत होता था । इस लिए उन लोगों ने एकत्र होकर समय निर्माण किए कि जो व्यक्ति हमारे मध्य में कठोरभाषी, दण्डपरायण पर-स्त्री अथवा पर धन अपहरण करने वाला होगा उसको हम लोग अपने समूह से बहिष्कृत कर देंगे । उन्होंने यह इस लिए किया था कि समस्त वर्णों में पारस्परिक विश्वास उत्पन हो जाए ।[1] इस प्रकार उन्होंने समयों (विधियों) का निर्माण तो कर

१--समेत्य तास्ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम् ।
वाक्शूरो दण्डपरुषो यश्च स्यात्पारजायिकः ।। श्लोक १८ अ० ६७ शा० पर्व ।।
यः परस्वमथादद्यात्त्याज्या नस्तादृशा इति ।
विश्वासार्थं च सर्वेषां वर्णानामविशेषतः ।। श्लोक १९ अ० ६७ शा० पर्व ।।

लिया परन्तु वह उनका पालन न कर सके।[1] इस लिए उन लोगों को एक ऐसी सत्ता के निर्माण करने की आवश्यकता प्रतीत हुई जो इन समयों को उन लोगों में कार्यान्वित करा सकती। यही सत्ता राजा के रूप में निर्माण की गई और इस प्रकार लोगों के द्वारा निर्माण किए गए समयों ने विधियों का रूप धारण किया

महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म ने जो उपर्युक्त वर्णन दिया है वह इस सिद्धान्त की स्थापना करता है कि भीष्म विधिनिर्माण के लोकसम्मत साधन में भी आस्था रखते थे। इस लिए भीष्म के मतानुसार विधिनिर्माण का एक प्रमुख साधन लोकसम्मत साधन भी था।

इस विषय में यह बात उल्लेखनीय है कि मनु, शुक्र, कौटिल्य, आदि राजशास्त्र के आचार्यों ने विधिनिर्माण के इस साधन का उल्लेख कहीं नहीं किया। इससे यह विदित होता है कि भीष्म में यह विशेषता है। प्राचीन भारत के राजशास्त्र के आचार्यों में केवल भीष्म ही ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने जनता की सम्मति के आधार पर विधि निर्माण किए जाने का समर्थन किया है। इस दृष्टि से भीष्म प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के इतिहास में विशेष स्थान रखते हैं।

(ख) विधि निर्माण का दैवी साधन--विधि निर्माण का दूसरा प्रमुख साधन जिसका भीष्म ने उल्लेख किया है दैवी साधन है। भीष्म इस विषय का स्पष्ट उल्लेख करते हैं कि विधि निर्माण कार्य जगत स्रष्टा ब्रह्मा के द्वारा भी सम्पादित हुआ था। राज्य की उत्पति के विषय में जो वर्णन उन्होंने दिया है वह इस सिद्धान्त की स्थापना करता है। उनका मत है कि सृष्टि के आदि काल में सत्ययुग था। सत्य-युग में मनुष्य सुखी और संतुष्ट था। कुछ काल व्यतीत होने पर उन लोगों को काम, क्रोध, मोह, लोभादि विकारों ने घेर लिया और इसका परिणाम यह हुआ कि उनका वह सुखी जीवन अधिक समय तक स्थिर न रह सका। धीरे-धीरे उनका जीवन दुख और यातनामय होने लगा। मानव समाज में असन्तोष, अशान्ति, विप्लव और दुखदारिद आदि अपना नग्न ताण्डव नृत्य करने लगे जिसके कारण प्राणिमात्र त्राहि-त्राहि करने लगा। उनकी ऐसी दशा देखकर देवों ने ब्रह्मा की शरण ली और उनसे मानव जीवन में इस बड़े परिवर्तन का कारण निवेदन किया। ब्रह्मा ने उनके इस प्रकार से आए हुए दुःख के मोचन हेतु एक लाख अध्याय के एक ग्रन्थ की रचना की।[2] इस विशाल ग्रन्थ में मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को नियंत्रित करने एवं उसके सुचारू रूप से संचालित होने के लिए जीवनयापन सम्बन्धी नियम दिए हुए थे। ब्रह्मा ने मनुष्य मात्र के कल्याण हेतु देवों को इस ग्रन्थ को इस आदेश के साथ सौंप दिया कि मनुष्यमात्र इस विशाल ग्रन्थ में वर्णित जीवन सम्बन्धी नियमों

१—तास्तथा समयं कृत्वा समये नावत स्थिरे ॥ श्लोक १९ अ० ६७ शा० पर्व ॥

२—ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम् ॥ श्लोक २९ अ० ५९ शा० पर्व ॥

के अनुसार अपने आचरण को धारण करेगा।[1] देवगण इस विधिसंग्रह को लेकर वापस लौट आए। उन्होंने मानव समाज में इन नियमों के पालन किए जाने का भरसक प्रयत्न किया परन्तु वह अपने इस उद्देश्य में सफल न हुए क्योंकि स्वार्थान्ध मनुष्य इन नियमों का उल्लंघन करने लगा। फलतः मानव समाज के कल्याण से सम्बन्धित विधि-संग्रह के प्राप्त कर लेने पर भी मनुष्य के उस नारकीय जीवन में कोई विशेष अन्तर न हुआ। इस लिए इन लोगों को एक ऐसे शक्तिशाली व्यक्ति की आवश्यकता प्रतीत हुई जो इन लोगों को ब्रह्मा द्वारा निर्माण किए गए विधियों के अनुसार आचरण धारण करने के निमित्त बलपूर्वक विवश कर सकता। इस प्रकार राजा की उत्पति हुई और जिसका एक मात्र कर्त्तव्य मानव समाज में इस विधि-संग्रह को लागू करना था।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रसंग जिसका वर्णन भीष्म महाभारत के शान्ति पर्व में करते हैं इस सिद्धान्त की निश्चय पूर्वक स्थापना करता है कि प्राचीन भारत में विधि-निर्माण कार्य ब्रह्माद्वारा हुआ था। यह विधि विधिनिर्माण के दैवी साधन की कोटि में परिगणित किए जाएँगे।

इस प्रसंग में ही एक स्थल पर भीष्म राजा युधिष्ठिर को राजा एवं राज्य की परिपाटी का प्रारम्भ कैसे हुआ इस विषय का बोध कराते हुए बतलाते हैं कि सत्ययुग में राजा अथवा राज्य एवं दण्ड अथवा दण्ड देने वाला कुछ भी नहीं था। उस युग में लोग धर्म के अनुसार अपने कर्त्तव्य पालन में संलग्न रहते थे, और इस प्रकार अपनी रक्षा स्वयं कर लेते थे।[2] भीष्म का यह कथन भी इस बात को सिद्ध करता है कि सत्ययुग में किसी न किसी रूप में विधि प्रचलित थे। सम्भव है इनका स्वरूप प्राकृत विधियों (natural laws) का रहा हो। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उस युग में कुछ न कुछ नियम अथवा विधि अवश्य प्रचलित थे। इन नियमों या विधियों की उत्पति भी अनादि काल से मानी जाती है। इनका निर्माण भी ब्रह्मा ने सृष्टि रचना के साथ ही किया होगा।

भीष्म के इस कथन की पुष्टि महाभारत में ही मार्कण्डेय मुनि ने भी की है। महाभारत के बन पर्व में युधिष्ठिर और मार्कण्डेय मुनि का सम्वाद दिया हुआ है। इस सम्वाद में यह बतलाया गया है कि मनुष्य के कल्याण हेतु ब्रह्मा ने विधिनिर्माण

१—एतत्कृत्वा शुभं शास्त्रं ततः स भगवान्प्रभुः।
देवानुवाच संहृष्टः सर्वाञ्छक्रपुरोगमान्॥ श्लोक ७५ अ० ५९ शा० पर्व॥
उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च।
नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता॥ श्लोक ७६ अ० ५९ शान्ति पर्व॥
दण्डेन सहिता ह्येषा लोकरक्षणकारिका।
निग्रहानुग्रहरता लोकाननुचरिष्यति॥ श्लोक ७७ अ० ५९ शान्ति पर्व॥

२—धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥ श्लोक १४ अ० ५९ शान्ति पर्व॥

किए । मार्कण्डेय मुनि यह स्पष्ट कहते हैं कि प्रजापति ने सबसे प्रथम जीवात्माओं के लिए निर्मल और शुद्ध शरीर एवं उत्तम धर्मशास्त्र का निर्माण किया था।[१] इसलिए भीष्म के इस कथन की पुष्टि कि आदि काल में विधि निर्माण कार्य ब्रह्मा द्वारा हुआ था मार्कण्डेय मुनि के द्वारा भी हुई है।

वाल्मीकीय रामायण में भी इस सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। रामायण के किष्किन्धा काण्ड में लक्ष्मण सुग्रीव को राम के प्रति उसके कर्त्तव्य का बोध कराते हुए कहते हैं - हे वानरराज, घोड़े के विषय में झूठ बोलने से सौ घोड़े मारने का पाप होता है। गौ के सम्बन्ध में झूठ बोलने से सहस्र गौ मारने का पाप होता है और पुरुष के सम्बन्ध में झूठ बोलने से मनुष्य अपना और स्वजनों का नाश करता है। हे बानरराज, जो मित्र से अपना कार्य पहले करा लेता है और फिर उसका बदला नही चुकाता है वह कृतघ्न है और सब प्राणियों से वध होने का पात्र है —यह श्लोक सर्व पूज्य ब्रह्मा ने स्वयं गाया है।[२] बाल्मीकीय रामायण में वर्णित यह घटना इस सिद्धान्त की स्थापना करती है कि आदि काल में कुछ विधियों का निर्माण ब्रह्मा द्वारा हुआ था।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रसंगों के आधार पर यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि लोककल्याण के निमित्त भगवान ब्रह्मा ने स्वयं विधिनिर्माण कार्य किया था। और ब्रह्मा द्वारा निर्माण किए गए यह विधि मानव समाज में निरन्तर प्रचलित रहे।

(ग) विधिनिर्माण का आर्ज साधन—मानव जीवन प्रगति शील है। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार उस में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। इसीलिए मानव जीवन को समय-समय पर देश, काल और परिस्थिति के अनुसार अनुशासित और नियंत्रित करने के लिए ऋषि-मुनि समय-समय पर नियम बनाते थे जो विधि का रूप धारण कर लेते थे यही विधि आर्षसाधन के अन्तर्गत परिगणित किए जाएंगे।

महाभारत के शान्ति पर्व में पापों और उनके प्रायश्चित्त के साधनों के सम्बन्ध में एक लम्बी सूची दी हुई है। इन साधनों का उल्लेख भीष्म ने राजा युधिष्ठिर के समक्ष किया है। भीष्म ने इनका उल्लेख शान्ति पर्व के पैंतीसवें अध्याय में विशेषरूप में किया है। इस कोटि के विधियों का वर्गीकरण आर्षसाधन के अन्तर्गत होगा।

इसके अतिरिक्त भीष्म यह भी बतलाते हैं कि धर्म (विधि) सम्बन्धी संशय उत्पन्न होने पर वेदशास्त्र के ज्ञाता दस अथवा धर्मशास्त्र के ज्ञाता तीन ब्राह्मण जो

१—ससर्ज धर्मतंत्राणि पूर्वोत्पन्न प्रजापतिः ॥ श्लोक ६२ अ० १८३ वन पर्व ॥

२—शतमश्वानृते हन्ति सहस्त्रं तु गवानृते ।
आत्मानं स्वजनं हन्ति पुरुषः पुरुषानृते ॥ श्लोक ६ सर्ग ३४ किष्किन्धाका० ॥
पूर्वं कृतार्थो मित्राणां न तत्प्रति करोति या ।
कृतघ्नः सर्वभूतानां स वध्यः प्लवंगेश्वर ॥ श्लोक ११ सर्ग ३४ किष्किन्धाका०॥
गीयोऽयं ब्राह्मणा श्लोकः सर्वलोक नमस्कृतः॥ श्लोक १० सर्ग ३४ किष्किन्धाका० ॥

व्यवस्था दें उसको ही धर्म कह कर स्वीकार करना चाहिए।[1] महाभारत के इसी पर्व में भीष्म ने कुछ ऐसे ऋषिमुनियों के नाम भी दिए हैं जो कि धर्मशास्त्र प्रणेता थे। इनमें विशालाक्ष, शुक्राचार्य, महेन्द्र, मनु, भरद्वाज तथा गौरशिरा मुख्य हैं।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाण इस सिद्धान्त के पोषक हैं कि भीष्म विधि निर्माण के आर्षसाधन में आस्था रखते थे।

(घ) **स्थानीय संस्थाओं द्वारा विधिनिर्माण कार्य**---प्राचीन भारतीय जीवन की एक विशेषता सदैव से यह रही है कि उनका जीवन संस्थामय रहा है। उनके जीवन प्रवाह में अनेक संस्थाओं का प्रादुर्भाव हो चुका था। और इनमें से प्रत्येक संस्था अपना विशेष अस्तित्व रखती थी। मनुष्य जीवन के अपने सीमित क्षेत्र में प्रत्येक संस्था स्वतंत्र रूप से अपना कार्य करती थी। प्रत्येक संस्था के विधिवत संचालन हेतु उस संस्था के कार्य-क्षेत्र के अनुरूप नियमों का निर्माण होता रहता था। ज्यों-ज्यों उस संस्था का विकास होता जाता था एवं उसके जीवन में परिवर्तन या परिवर्धन होता जाता था वैसे-वैसे इन नियमों नें भी विकास एवं परिवर्तन अथवा परिवर्धन होता जाता था। राज्य की सरकार की ओर से इन नियमों में उस सयय तक किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप नहीं होता था जब तक कि इन संस्थाओं के यह नियम मानव समाज के परम्परागत स्थिर नियमों के विरुद्ध न होते थे। यह संस्थाएँ इस प्रकार, अपने-अपने संघठन के अनुसार अपने-अपने जीवन को संयमी एवं नियंत्रित करने के लिए नियम स्वयं बनाती रहती थीं जिनको राज्य अपनालेता था और उनको मान्यता प्रदान कर देता था। राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त यही नियम विधि का स्थान ग्रहण कर लेते थे और राज्य के उस सीमित क्षेत्र के लिए विधि का कार्य करने लगते थे। भीष्म ने इनमें से कुछ संस्थाओं का उल्लेख करते हुए अप्रत्यक्ष रूप में बतलाया है कि इन संस्थाओं के द्वारा विधि निर्माण कार्य सम्पादित होता था।

(अ) **कुलधर्म**---प्राचीन भारतीय जीवन की इन अनेक संस्थाओं में कुल सबसे छोटी संस्था मानी गयी है। प्राचीन भारत में प्रत्येक युग ने कुल की स्वतंत्रता को राज्य ने सदैव मान्यता दी है। मनुष्य जीवन के इस सीमित क्षेत्र में अपने निर्धारित नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करने के लिए कुल को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थ । कुल के अधीन मनुष्य जीवन के सीमित क्षेत्र में राज्य की ओर से केवल उस समय हस्तक्षेप किया जाता था जब कि कुल समाज अथवा राज्य के निर्धारित

१---दश वा वेदशास्त्रज्ञास्त्रयो वा धर्मपाठकाः।
यद्ब्रूयुः कार्य उत्पन्ने स धर्मो धर्मसंशये॥ श्लोक २० अ० ३६ शान्ति पर्व॥

२---विशालाक्षश्च भगवान्काव्यश्चैव महातपाः।
सहस्राक्षो महेन्द्रश्च तथा प्राचेतसे मनु॥ श्लोक २ अ० ५८ शान्ति पर्व॥
भरद्वाजश्च भगवांस्तथा गौरशिरा मुनिः।
राजशास्त्रप्रणेतारो ब्रह्मण्या ब्रह्मवादिनः॥ श्लोक ३ अ० ५८ शान्ति पर्व॥

नियमों या विधियों के भंग करने का साहस करता था। इस प्रकार प्रत्येक कुल अपने लिए विधियों का निर्माण स्वयं कर लेता था जिन्हें भीष्म कुल-धर्म के नाम से सम्बोधित करते हैं। प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र के प्रमुख आचार्यों ने कुल-न्यायालय की ओर संकेत किया है और इस ओर भी कतिपय संकेत किए हैं कि कुल के अन्तर्गत जनता के पारस्परिक कलह एवं तत्सम्बन्धी विवादग्रस्त विषयों का निर्णय कुल-न्यायालय के द्वारा होता था।[१] कुल-न्यायालयों में कुलधर्म के अनुसार निर्णय दिया जाता था जिसके अनुसार कुल के अधीन लोगों को आचरण धारण करना पड़ता था। कुल-न्याय-संस्था का उल्लेख स्मृतियों में है। नारदस्मृति में इस न्यायसंस्था की ओर संकेत किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी इस संस्था का उल्लेख है। न्याय-वितरण कार्य की कितनी मात्रा एवं उसका कितना क्षेत्र कुलन्यायसंस्था के अधीन सीमा के अन्तर्गत आता था इस विषय के बोध कराने के लिए प्रामाणिक सामग्री महाभारत के शान्ति पर्व में उपलब्ध नहीं है। इसलिए यह निश्चय पूर्वक कहा नहीं जा सकता कि भीष्म के मतानुसार मनुष्य जीवन का कितना क्षेत्र कुल के अधीन माना जाता था एवं मनुष्य जीवन का कितना क्षेत्र कुल-धर्म के द्वारा नियंत्रित किया जाता था।

अर्थशास्त्र में कुल की ओर संकेत किया गया है जिसके आधार पर कुल के क्षेत्र का कुछ बोध हो जाता है। अर्थशास्त्र में नागरिक नाम के एक राजकर्मचारी के कर्तव्यों का वर्णन दिया गया है। इसी प्रसंग में यह भी बतलाया गया है कि कौटिल्य के समय में गोप नाम का एक राजकर्मचारी होता था जो दस, बीस अथवा चालीस कुटुम्बों के समुह के स्त्री-पुरुष, जाति, गोत्र, नाम, काम, चलने-फिरने

१—राज्ञा ये विदिताः सम्यक्कुल श्रेणिगणादयः ।। श्लोक ५५२ अ० ४ शुक्रनीति ।।
नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च ।।
पूर्वं पूर्वं गुरुगेयं व्यवहार विधौ नृणाम् ।। याज्ञवल्क्यस्मृति ।।
कुलानि श्रेणयश्चैव गणाश्चाधिकृतो नृपः ।
प्रतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्वेभ्यस्तूत्तरोत्तरम् ।। नारदस्मृति ।।
कुलादिभिर्निश्चितेऽपि न सन्तोषं गतस्तु यः ।
विचार्य तत्कृतं राजा कुकृतं पुनरुद्धरेत ।। श्लोक २३ काण्ड ६ बृहस्पतिस्मृति ।।
एते च देश कुल धर्मा व्याख्याताः ।। आपस्तम्बस्मृति ।।
जातिजानपदान्धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित् ।
समीक्ष्यकुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपालयेत् ।। श्लोक ४१ अ० ८ मनुस्मृति ।।
तेषां धर्मैकरक्षणां कुलचारित्र शोभिनां ।। श्लोक २३ सर्ग ७३ अयो० काण्ड ।।
सराघवाणां कुल धर्मात्मनः सनातनं नाघ विहन्तु मर्हसि ।।
श्लोक ३७ सर्ग ११० अयो० का० ।।

वाले पशु और आय तथा व्यय का ज्ञान रखता था ।[1] इस वर्णन से यह ज्ञात होता है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र के रचना काल में दस, बीस अथवा चालीस कुटुम्बों के अलग-अलग समूह होते थे जो कुल कहलाते थे । इन्हीं कुलों के समूह के विवाद-ग्रस्त विषयों के निर्णय हेतु कुल नाम की न्याय–संस्था की स्थापना की जाती होगी जिस में कुल-धर्मों के अनुसार न्याय–वितरण कार्य किया जाता होगा। इन्ही कुल–धर्मों का उल्लेख प्राचीन भारत के राजशास्त्र के आचार्यों ने यत्र-यत्र किया है ।

भीष्म ने कुल–धर्मों की रक्षा करना राजा का परम धर्म बतलाया है । उनके मतानुसार कुलधर्मों की रक्षा करना महान पुण्य कार्य है । उनका कहना है कि कुलधर्मों की भली भांति रक्षा करने से राजा को चारो आश्रमों के धर्मों के पालन करने का फल प्राप्त होता है । वह राजा युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहते हैं हे पुरुष व्याघ्र कौनतेय जो राजा देशधर्म तथा कुलधर्म की रक्षा करता रहता है वह चारों आश्रमों के धर्मो का पालन करने वाला कहलाता है ।[2] भीष्म के इस कथन से यह प्रकट होता है कि कुल-धर्म राज्य द्वारा प्रमाणित माने जाते थे । उनकी रक्षा करना राजा का महान कर्तव्य था । इतना ही नहीं वरन इन कुल-धर्मों की उचित रीति से रक्षा करने से राजा को बड़ा पुण्य होता है ऐसा भीष्म का मत है ।

भीष्म कुल-धर्मो को बड़ा ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं । वह कुल–धर्मो को शाश्वत मानते हैं । वह उन्हे ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न किए गए मानते हैं । ब्रह्मा ने एक लक्ष अध्याय का जो दण्डनीतिशास्त्र लोककल्याण के लिए रचा था, और जिसमें मनुष्य जीवन के प्रत्येक अंग से सम्बन्धित विधियों का समावेश किया गया था उसी ग्रन्थ में कुल धर्मों को भी ऊंचा स्थान दिया गया है । कुल धर्मों को देशधर्म, और जातिधर्मों की श्रेणी में समानता का स्थान दिया गया है ।[3]

भीष्म महाभारत के शान्ति पर्व में एक स्थल पर इस बात को स्वीकार करते हैं कि शिष्ट पुरुषों के द्वारा जो धर्म बतलाये गए हैं उन्हें वह भली भांति जानते थे । इन धर्मों में उन्होंने देश-धर्म, जाति–धर्म एवं कुल धर्म को परिगणित किया है । भीष्म इस विषय में श्री कृष्ण से इस प्रकार कहते हैं—हे जनार्दन,

---

१—दशकुलीं गोपो विंशतिकुलीं चत्वारिंशत्कुलीं वा ।।

वार्ता २ अ० ३६ अधि० २ अर्थशास्त्र ।।

स तस्यां स्त्री पुरुषाणां जातिगोत्रनामकर्मभिः जंघाग्रमायव्ययौ च विद्यात् ।।

वार्ता ३ अ० ३६ अधि० २ अर्थशास्त्र ।।

२—देशधर्मांश्च कौन्तेय कुल धर्मांस्तथैव च ।

पालयन्पुपुरुषव्याघ्र राजा सर्वाश्रमी भवेत् ।। श्लोक २९ अ० ६६ शान्ति पर्व ।।

३—देशजातिकुलानां च धर्माः समनुवर्णिताः ।। श्लोक ७१ अ० ५९ शान्ति पर्व ।।

शिष्ट पुरुषों ने जिन धर्मों का उपदेश किया है वह सब कुछ मेरे हृदय में वर्तमान है। मैं देशधर्म जातिधर्म और कुलधर्मों को भी भली भांति जानता हूं।[1] इसी प्रसंग में एक स्थल पर श्री कृष्ण ने भीष्म के गुणों का बखान करते हुए देशधर्म, जाति-धर्म, और कुल–धर्मों के विषय में संकेत किया है। श्रीकृष्ण इस विषय में कहते हैं—हे गाङ्गेय! चारो वर्णों के धर्मों के जो विरुद्ध नहीं है, आपने उन सब धर्मों का सेवन कर रखा है। आप उनकी व्याख्या भी जानते हैं। आपसे कुछ भी अविदित नहीं है। इसी प्रकार प्रतिलोम की रीति से उत्पन्न हुए वर्णों के धर्मों तथा देशधर्म, जातिधर्म, और कुलधर्मों को भी भली भांति जानते हैं।[2]

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर इस सिद्धान्त की स्थापना स्पष्ट रूपसे हो जाती है कि भीष्म द्वारा प्रतिपादित विधिनिर्माण का एक प्रमुख साधन कुल भी था जिसकी प्राचीनता भीष्म ही ने नहीं वरन लग-भग समस्त हिन्दू धर्मशास्त्र-प्रणेताओं ने स्वीकार की है। अपने-अपने कुलधर्मों का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य माना गया है। राज्य को इन धर्मों में हस्तक्षेप करने का अधिकार न था। इन धर्मों की रक्षा करना और प्रजा को इन धर्मों के अनुसार आचरण करने के लिए सुविधा देना एवं उन्हें उनके पालन करने के लिए विवश करना राजा का प्रधान धर्म माना जाता था। राजा को स्वयं अपने कुल-धर्म के उल्लंघन करने का अधिकार न था। कुल–धर्म के उल्लंघन से उसका सर्वनाश हो जाता था।

(आ) जातिधर्म—राज्य में कुलधर्मों के साथ साथ जाति-धर्म भी प्रचलित थे। प्रत्येक राज्य में विभिन्न जातियां होती हैं और यही नियम प्राचीन भारत के राज्यों की जनता पर भी चरितार्थ होता है। इन जातियों में प्रत्येक जाति का संघठन अपना निजी प्रकार का होता था। प्रत्येक जाति का जीवन अपनी परिस्थितियों के अनुसार कुछ न कुछ विशेषता अवश्य रखता था। इस लिए प्रत्येक जाति इस ओर प्रयत्नशील रहती थी कि उसका जीवन उनकी परिस्थितियों के अनुकूल स्थिर रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह जाति अपनी विशेष परिस्थितियों के अनुरूप अपने जीवन सम्बन्धी कुछ नियम बना लेती थी जिनका पालन करना उस जाति के लोगों का धर्म समझा जाता था। यही नियम राज्य की ओर से मान्यता प्राप्त कर लेते थे और इस प्रकार वह मान्यता प्राप्त नियम विधि का रूप धारण कर लेते थे। यही विधि जाति-धर्म कहलाते थे। इस प्रकार यह जाति धर्म जाति के विकास के साथ-साथ स्वयं विकास को प्राप्त होते रहते थे।

१—शिष्टैश्च धर्मो यः प्रोक्तः स च मे हृदि वर्तते।
देशजातिकुलानां च धर्मज्ञोऽस्मि जर्नादन॥ श्लोक २० अ० ५४ शान्ति पर्व॥

२—देशजातिकुलानां च जानीषे धर्म लक्षणम्।
वेदोक्तोयश्च शिष्टोक्तः सदैव विदितस्तव॥ श्लोक ३५ अ० ५० शान्ति पर्व॥

जातिधर्मों को भी कुलधर्मों की भांति आदि काल से प्रचलित भीष्म ने माना है। ब्रह्मा द्वारा लोककल्याण के लिए जिस दण्डनीति का निर्माण किया गया है और जिसका उल्लेख भीष्म ने किया है, उसमें जाति-धर्मों की भी व्यवस्था दी गयी है।[1] भीष्म ने जातिधर्म के महत्त्व पर शान्ति पर्व में अनेक स्थलों पर अपना मत प्रकट किया है और उन्हे कुल-धर्म और देश-धर्म के समान ही महत्त्वशाली माना है।

इस प्रकार भीष्म ने विधि–निर्माण क्षेत्र में जातिधर्म को भी विधि-निर्माण का एक प्रमुख साधन माना है। भीष्म के इस मत की पुष्टि मनु, शुक्र याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब बृहस्पति, नारद आदि धर्मशास्त्र प्रणेताओं ने भी की है। इन समस्त शास्त्रकारों ने राज्य को इन धर्मों को मान्यता देने एवं इनकी विधिंवत रक्षा करने का राजा के लिए परम कर्तव्य निर्धारित किया है। उनका भी भीष्म के समान ही स्पष्ट मत है कि राजा को यह भली भांति देखना चाहिए कि उसके राज्य में प्रत्येक जाति अपने–अपने जाति-धर्मों के अनुसार आचरण करती है, साथ ही उसकी सरकार इन धर्मों को प्रमाणित मानकर मान्यता देती है और उस जाति के लोगों को हर प्रकार की सुविधा देती है जिससे कि वह अपने-अपने जाति–धर्मों के अनुसार अपना आचरण धारण करने में सफल हो सकें।

(इ) **देशधर्म**—प्रत्येक भूभाग का जलवायु वहां के निवासियों के जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव डालता है। यही कारण है कि संसार के भिन्न-भिन्न भूभागों के निवासियो के रहन-सहन एवं आचार-विचार में कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य पायी जाती है। मनुष्य अपनी रीति-रिवाजों, आचार-विचारों एवं जीवन सम्बन्धो अन्य नियमों को स्थान विशेष के अनुरूप बना लेता है जिन्हे वह शीघ्र बदलना नहीं चाहता। इसी सिद्धान्त के अनुसार वह अपने विशेष जीवन सम्बन्धी नियमों के विकास नें स्वभावतः निरन्तर संलग्न रहता है। इसीलिए संसार के विभिन्न भू-भागों के निवासियों के जीवन में भिन्नता रहना स्वाभाविक है। संसार के प्रत्येक भूभाग के निवासियों में मानव समाज के संघठन के मौलिक सिद्धान्तों में, निःसंदेह, समानता अवश्य मिलेगी। परन्तु इन भूभागों के जलवायु एवं वहां को भूमि ने इसे अछूता कहीं नहीं छोड़ा है। इन्होंने वहां के जन-समूह के जीवन संघठन पर गहन प्रभाव डाला है। इसी कारण इन विभिन्न भू-भागों के निवासियों के जीवन के मौलिक सिद्धान्तों में एकता होने पर भी उनके जीवन में अनेकरूपता दृष्टिगोचर होती है। जीवन में यह अन्तर मनुष्य के लिए स्थानीय रीति-रिवाजों, आचार-विचारों एवं विधियों आदि के जन्म का अवसर देता है जिसके कारण संसार के विभिन्न भू-भागों में देश-धर्मो (**territorial Laws**) के निर्माण का सुअवसर प्राप्त होता है। आज भी यह देखने में आता है कि पंजाब और बंगाल के हिन्दुओं के सामाजिक संघठन में मौलिक सिद्धन्तों में एकता होने पर भी उनके स्थानीय आचार-विचार एवं रीति-रिवाजों के

१—देशजातिकुलानां च धर्मा: समनुविर्णताः ॥ श्लोक ७१ अ० ५९ शा० पर्व ॥

नियमों में अन्तर है। सिन्ध और पंजाब के हिन्दुओं के खान-पान के नियम इतने कठोर नहीं हैं जितने कि उत्तर प्रदेश एवं बंगाल के हिन्दुओं के इन नियमों में कठोरता पायी जाती है।

इस प्रकार हम इस सिद्धान्त पर अवश्य पहुँचते हैं कि इस विशेष जीवन के, जो कि स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप होता है, पथ प्रदर्शन करने, उसके नियंत्रण करने और उसकी रक्षा करने की परम आवश्यकता होती है और यह आवश्यकता उस समय विशेष प्रकार से अनुभव की जाती है जब कि संसार के विभिन्न भूभागों में निवास करने वाले लोगों में आवागमन के साधनों का अभाव हो अथवा प्राकृतिक असुविधाओं के कारण पारस्परिक सम्पर्क के बहुत कम अवसर प्राप्त होते हों। लोगों की इस आवश्यकता की पूर्ति उन विभिन्न भू-भागों की विशेष परिस्थितियों के अनुकूल जीवन सम्बन्धी स्थानीय विधियों के निर्माण हो जाने से हो जाती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन भारत में इस प्रकार के स्थानीय विधि विभिन्न भूभागों में प्रचलित रहे हैं। भीष्म ने भी इन विधियों के प्रचलन की ओर विशेष महत्त्व दिया है। उन्होंने महाभारत के शान्ति पर्व में कई प्रसंगों में इस प्रकार के विधियों की मान्यता देने एवं उनके विधिवत पालन करने की समुचित व्यवस्था करने का आदेश दिया है।

भीष्म इस सिद्धान्त की स्थापना करते हुए कि देश-धर्मों को राजा को मान्यता देनी चाहिए एवं उनकी विधिवत रक्षा करनी चाहिए राजा युधिष्ठिर को बतलाते हैं कि यह विधि सनातन हैं और इनका निर्माण भी ब्रह्मा द्वारा उसी समय किया गया था जब कि उन्होंने मनुष्य मात्र के कल्याण-हेतु एक लक्ष अध्याय-युक्त ग्रन्थ की रचना की थी।[1] इस प्रकार वह इन विधियों की पवित्रता एवं उनके महत्त्व का उल्लेख करते हैं। भीष्म के इस कथन से यह विदित होता है कि वह इन विधियों की ओर कितनी श्रद्धा-भक्ति रखते थे। इन्हें वह कितना पवित्र समझते थे। भीष्म ने देश-धर्मों के लिए भी उतना ही आदर-भाव दिखाया है जितना कि वह कुल धर्मों एवं जातिधर्मों के प्रति दिखलाते हैं। राज्य को इन धर्मों को भी कुल-धर्म एवं जाति-धर्म की भाँति प्रमाण मानकर मान्यता देनी पड़ती थी। भीष्म ने इन धर्मों को बहुत ऊंचा स्थान दिया है। वह इस विषय में राजा युधिष्ठिर को आदेश देते हुए कहते हैं —जो राजा देशधर्म तथा कुलधर्म एवं जातिधर्म का उचित रीति से पालन करता है वह चारों आश्रमों के पालन करने का फल पाने का अधिकारी होता है।[2]

इस प्रकार यह निर्विवाद है कि भीष्म विधिनिर्माण का एक प्रमुख साधन देश-धर्मों को मानते थे।

१—देशजाति कुलानां च धर्माः समनुवर्णिताः ॥ श्लोक ७१ अ० ५६ शान्ति पर्व ॥

२—देशधर्मांश्च कौन्तेय कुलधर्मांस्तथैव च।
पालयन्पुरुषव्याघ्र राजा सर्वाश्रमी भवेत् ॥ श्लोक २९ अ० ६६ शान्ति पर्व ॥

प्राचीन भारत में देश, जाति एवं कुल धर्मों को इतना महत्त्व दिया गया है कि इन धर्मों को भंग करने वाले व्यक्ति को इतना महान पाप का भागी माना जाता था कि उसको धर्महीन व्यक्ति समझा जाता था। इस विषय में व्यास मुनि स्पष्ट व्यवस्था देते हुए राजा युधिष्ठिर से कहते हैं—जो लोग जातिधर्म, आश्रमधर्म, देशधर्म, और कुलधर्म का त्याग करते हैं उन लोगों में धर्म ही नहीं रहता।[१]

इस प्रकार भीष्म ने विधि-निर्माण सम्बन्धी विविध साधनों का वर्णन किया है जिनका उल्लेख महाभारत के शान्ति पर्व में प्राप्त है।

१—जातिश्रेण्यधिवासानां कुलधर्मांश्च सर्वतः।
वर्जयन्ति च ये धर्मं तेषां धर्मो न विद्यते॥ श्लोक १९ अ० ३६ शान्ति पर्व॥

पञ्चम अध्याय

कोष

कोष की आवश्यकता—प्राचीन भारत के राजशास्त्र के लगभग प्रत्येक प्रणेता ने सप्तांग राज्य का एक प्रधान अंग कोष माना है। राज्य के संघठन एवं संचालन हेतु उन्होंने कोष की परम आवश्यकता बतलायी है। कौटिल्य के मतानुसार संसार में अर्थ ही प्रधान वस्तु है।[1] उसी के अधीन धर्म और काम है।[2] इसलिए वह कोष को राज्य का आधार मानते हैं। उनका ऐसा मत है कि राज्य सम्बन्धी समस्त क्रिया का आधार कोष ही होता है।[3] इसलिए राजा को सर्व प्रथम कोष-वृद्धि का चिन्तन करना चाहिए और कोष-संग्रह करना चाहिए।[4] इस विषय में शुक्र का मत है कि राजा को सेना, प्रजारक्षण और यज्ञ के निमित्त कोष का संग्रह करना चाहिए।[5]

भीष्म भी राज्य के सप्तांग स्वरूप में आस्था रखते हैं और राज्य के सात अंगों में कोष को भी एक प्रधान अंग मानते हैं। उन्होंने भी राज्य के संघठन एवं उसके संचालन हेतु राजा के द्वारा कोष का संग्रह किया जाना परम आवश्यक बतलाया है। उनका भी मत है कि राजाओं को प्रयत्नपूर्वक कोष की रक्षा करनी चाहिए। कोष ही राजाओं का मूल एवं उनकी वृद्धि का कारण होता है।[6] कोष के महत्त्व का उल्लेख करते हुए भीष्म इस प्रकार कहते हैं—राजा का मूल कोष और सेना हैं। सेना का मूल कोष है। सेना समस्त धर्मों का मूल है और धर्म ही प्रजा-समूह का मूल होता है। इसलिए सबके मूल कोष की बृद्धि करनी चाहिए।[7] परन्तु जहां उन्होंने राज्य के इस आवश्यक अंग की उपयोगिता के गुणगान किए हैं वहीं उन्होंने इस ओर भी समुचित ध्यान दिया है कि राज्य के कोषवृद्धि के निमित्त अर्थ-सञ्चय कार्य में राजा को नितान्त स्वतंत्र नहीं होना चाहिए। यदि अर्थ-सञ्चय कार्य में राजा

१—अर्थ एव प्रधान इति कौटल्यः ॥ वार्ता १० अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥
२—अर्थ मूलौ हि धर्मकामाविति ॥ वार्ता ११ अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥
३—कोष-पूर्वाः सर्वारम्भाः ॥ वार्ता १ अ० ८ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥
४—तस्मात्पूर्वं कोषमवेक्षेत ॥ वार्ता २ अ० ८ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥
५—बल प्रजारक्षणार्थं यज्ञार्थं कोषसंग्रहः ॥ श्लोक ११८ अ० ४ शुक्रनीति ॥
६—कोषश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः ।
कोशमूला हि राजानः कोषोवृद्धिकरो भवेत् ॥ श्लोक १६ अ० ११९ शान्ति पर्व॥
७—राज्ञः कोशबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम् ।
तन्मूलं सर्वधर्माणां धर्ममूलाः पुनः प्रजाः ॥ श्लोक ३५ अ० १३० शान्ति पर्व ॥

को पूर्ण स्वतंत्रता दे दी जायगी तो प्रजा को क्लेश प्राप्ति की अधिक सम्भावना होगी। इसी दृष्टि से प्राचीन भारतीय राजशास्त्र-प्रणेताओं ने राजा के इस अधिकार-क्षेत्र पर कतिपय प्रतिबन्ध लगाए हैं। भीष्म भी इसी मत के पोषक हैं। उनका मत है कि राजकोष के निमित्त धन-संग्रह करने में राजा को पूर्ण स्वतंत्रता नहीं दी जानी चाहिए। कुछ ऐसे प्रतिबन्धों अथवा नियमों का आश्रय राजा को अवश्य लेना चाहिए जिससे राजकोष की वृद्धि करने में वह अनुचित साधनों को अपना न सके। इन प्रतिबन्धों अथवा नियमों का उल्लेख जैसा कि भीष्म ने राजा युधिष्ठिर के समक्ष किया है यहां किया जाएगा।

कोष-संग्रह करने के सिद्धान्त——राज्य के विधिवत संचालन हेतु कोष का संग्रह राजा को जिन सिद्धान्तों के आधार पर करना चाहिए इस विषय में भीष्म ने अपना मत राजा युधिष्ठिर के समक्ष प्रकट किया है। इस विषय में सबसे प्रथम सिद्धान्त प्रजा की परिपुष्टि का सिद्धान्त है जिसका वर्णन संक्षेप में नीचे दिया जाएगा।

(क) प्रजा-परिपुष्टि का सिद्धान्त——राज्य के लिए कोष-संग्रह करने से सम्बन्धित प्रजा की परिपुष्टि के सिद्धान्त से भीष्म का यह तात्पर्य है कि प्रजा की प्रत्येक प्रकार से परिपुष्टि करने के उपरान्त उससे करों के रूप में धन-सञ्चय इस प्रकार करना चाहिए जिससे प्रजा को लेश मात्र भी क्लेश न होने पाए। राज्य का संघठन एवं संचालन प्रजा रञ्जन हेतु होता है। यदि कोष के लिए धन-सञ्चय करने में प्रजा को क्लेश हुआ तो राज्य अपने उद्देश्य में ही विफल हो जायगा। इसी विषय को अपने समक्ष रखकर भीष्म ने इस सिद्धान्त की स्थापना करने एवं उसकी सम्पुष्टि के निमित्त कतिपय उदाहरण दिए हैं। प्रजा की परिपुष्टि के सिद्धान्त की स्थापना हेतु वह गाय से दुग्ध प्राप्ति का उदाहरण देते हैं। वह राजा युधिष्ठिर से कहते हैं कि दुग्ध के अभिलाषी व्यक्ति को पहले गाय को सेवा-सुश्रुषा आदि से परिपुष्ट करना चाहिए और फिर उसका दुग्ध-दोहन करना चाहिए। ऐसी अवस्था में गाय अपना दूध दुहाने के लिए स्वयं व्याकुल रहती है। ठीक इसी प्रकार राजा को अपनी प्रजा की परिपुष्टि प्रत्येक प्रकार से करनी चाहिए। जब प्रजा की यह दशा हो कि वह राज-कोष के निमित्त धन-दान करने के लिए उत्सुक हो उससे अल्प करों द्वारा धन सञ्चय करना चाहिए। इस विषय में भीष्म इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—जो दुग्ध देनेवाली गाय की सेवा करके प्रक्रिया से उसका दूध दुहता है उसको जैसे दूध की प्राप्ति होती है, ठीक उसी प्रकार जो राजा अपनी प्रजा की सेवा करके उपायों द्वारा उससे धन ग्रहण करने की याचना करता है उसी को राजकोष के निमित्त धन की प्राप्ति होती है।[1] परन्तु दुग्ध का अभिलाषी जो व्यक्ति दुग्ध-ग्रहण के निमित्त

१—यो हि दोग्ध्रीमुपास्ते स च नित्यं विन्दते पयः।
एवं राष्ट्रमुपायेन भुञ्जानो लभते फलम्॥श्लोक १७ अ० ७१ शान्ति पर्व॥

गाय के स्तनों को ही काट डालता है ऐसे व्यक्ति को गाय से दुग्ध की प्राप्ति नही हो सकती ।[1] इसी प्रकार जो राजा प्रजा के धन-हरण की चिन्ता में निमग्न हो जाता है वह स्वयं अपना ही नाश करता है । वह धन-लिप्सा के मोह में उलझा हुआ शास्त्र के विरुद्ध कर लगा कर प्रजा को पीड़ित करता रहता है ।[2]

प्रजा की परिपुष्टि के आधार पर धन–सञ्चय करने के सिद्धान्त के समर्थन में भीष्म माता और पुत्र का उदाहरण देते हैं । इस उदाहरण को देते हुए भीष्म राजा युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहते हैं––जैसे सुसन्तुष्ट माता अपने दुग्ध से अपने पुत्र को सन्तुष्ट करती है उसी प्रकार जब राजा पृथ्वी को परिपुष्ट कर उसकी भली भाँति रक्षा करता है तब वही पृथ्वी, माता के समान, प्रेम से परिप्लावित हो कर उसके लिए धन-धान्य और सुवर्ण की उत्पत्ति करती है ।[3] इसी सिद्धान्त की पुष्टि में भीष्म माली का उदाहरण देकर युधिष्ठिर को सचेत करते हुए कहते हैं––हे राजन, तुम प्रजा से धन-सञ्चय करने में माली की नीति का अनुसरण करो । तुमको कोयला बनाने वाले की नीति का कभी भी अनुसरण नहीं करना चाहिए । माली की नीति का अनुसरण कर प्रजा-पालन द्वारा तुम चिरकाल तक पृथ्वी के भोगने में समर्थ हो सकोगे ।[4] माली की नीति से भीष्म का यह तात्पर्य है कि माली अपने अधीन उपवन अथवा वाटिका के वृक्षों की भली भांति सेवा कर उनको खाद, जल आदि से परिपुष्ट करता है । वह उनको अनेक प्रकार से सजाता है और फिर उनके पके फलों एवं खिले फूलों का जो कि भूमि पर गिर कर नष्ट हो जाने वाले ही हैं सञ्चय करता है । इसी प्रकार राजा को अपनी प्रजा को भली भांति परिपुष्ट, सम्पन्न एवं सुसज्जित कर उससे स्वल्पकरों द्वारा राज-कोष के निमित्त धन-सञ्चय करना चाहिए । परन्तु कोयला बनाने वाले वृक्ष को मूल से ही नष्ट कर देते हैं ।

भीष्म ने इन शब्दों में प्रजा-परिपुष्टि के सिद्धान्त के अधार पर राजकोष के निमित्त धन-सञ्चय करने का आदेश दिया है ।

प्रजा की परिपुष्टि के सिद्धान्त के अधार पर कर-संग्रह किया जाना चाहिए इस विषय में शुक्र का मत भीष्म के समान ही है । वह भी भीष्म के द्वारा दिए गए

१––ऊधश्छिद्यात्तु योधेन्वाः क्षीरार्थी न लभेत्पयः ।
एवं राष्ट्रमयोगेन पीडितं न विवर्धते ।। श्लोक १६ अ० ७१ शान्ति पर्व ।।

२––अर्थमूलोऽपि हिंसां च कुरुते स्वयमात्मनः ।
करैर शास्त्र दृष्टैर्हि मोहात्संपडीयन्प्रजाः ।। श्लोक १५ अ० ७१ शान्ति पर्व ।।

३––दोग्ध्री धान्यं हिरण्यं च मही राज्ञा सुरक्षिता ।
नित्यं स्वेभ्यः परेभ्यश्च तृप्ता माता यथा पयः।।श्लोक १९ अ० ७१ शान्ति पर्व।।

४––मालाकारोपमो राजन्भव माऽङ्गारिकोपमः
तथा युक्तश्चिरं राज्यं भोक्तुं शक्ष्यसि पालयन् ।।श्लोक २० अ० ७१ शान्ति पर्व।।

उपर्युक्त उदाहरण देते हुए कहते हैं-राजा को अपनी प्रजा से राजकोष के निमित्त धन-सञ्चय करने में माली की नीति का अनुसरण करना चाहिए न कि कोयला बनाने वाले की नीति का।[1] कोयला बनानेवाले की नीति वृक्ष को मूल से नष्ट कर अपने अर्थ-सिद्धि मात्र के निमित्त होती है। परन्तु माली की नीति इस के नितान्त प्रतिकूल होती है। माली वृक्षों को यत्न पूर्वक परिपुष्ट कर उनके खिले फूलों तथा पके फलों को जो कि भूमि पर गिर कर नष्ट हो जाने वाले ही हैं सञ्चय कर उनका उचित भोग करता है।[2] इस प्रकार शुक्र ने भी राजकोष के निमित्त धन-सञ्चय करने में प्रजा की परिपुष्टि के सिद्धान्त के अपनाने का आदेश दिया है और इस प्रकार वह भीष्म की तत्सम्बन्धी नीति का समर्थन करते हैं।

(ख) प्रजा-पीडन के सर्वथा अभाव का सिद्धान्त—राजकोष के निमित्त धन-संग्रह करने का दूसरा सिद्धान्त जिसका प्रतिपादन भीष्म ने किया है धन-सञ्चय में प्रजा पीडन के सर्वथा अभाव का सिद्धान्त है। इस विषय में उन्होंने इस सिद्धान्त का समर्थन किया है कि राजा को अपने राज्य की प्रजा से राजकोष के निमित्त इस प्रकार धन-सञ्चय करना चाहिए जिससे प्रजा को लेश मात्र भी क्लेश न होने पाए। इसी सिद्धान्त को दृष्टिकोण में रखकर भीष्म ने इस सिद्धान्त की पुष्टि में कतिपय उदाहरण राजा युधिष्ठिर को इसके महत्त्व का बोध कराने के लिए दिए हैं। इस विषय में वह वाघिन का उदाहरण देते हुए कहते हैं--जिस प्रकार वाघिन अपने बच्चे को अपने दान्त से पकड़ कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर बच्चे को लेश मात्र भी क्लेश न देकर ले जाती है ठीक इसी प्रकार राजा को प्रजा को बिना क्लेश दिए हुए उसके पास से धन लेकर राजकोष में सञ्चय करना चाहिए।[3]

इसी विषय में वह भ्रमर का उदाहरण देते हुए कहते हैं—जैसे भ्रमर पादप से मधुपान करने में पादप के पुष्प पर बैठकर मधुको शनैः शनैः इस प्रकार ग्रहण करता है जिससे पादप को लेश मात्र भी इस विषय का बोध नहीं होने पाता कि उससे मधुग्रहण किया गया है ठीक इसी प्रकार राजकोष के निमित्त राजा को प्रजा से कर ग्रहण करना चाहिए।[4] इसी प्रसंग में वह जोंक का उदाहरण देते हुए कहते हैं—जैसे जोंक पशु के शरीर में लिपट कर कोमलता पूर्वक शनैः शनैः उसका रक्तपान करती है और रक्तपान करते समय उस पशु को इस बात का लेश मात्र भी पता नहीं चलता कि उसका रक्तपान किया जा रहा है, इसी विधि से राजा को

१—मालाकार इव ग्राह्यो भागोनांगारकारवत्॥ श्लोक २२३ अ० ४ शुक्रनीति॥

२—वृक्षान्संपुष्य यत्नेन फलपुष्पं विचिन्वति।
मालाकार इवात्यन्तं भागहारस्तथाविधिः॥ श्लोक १७१ अ० २ शुक्रनीति॥

३—व्याघ्रीव च हरेत्पुत्रान्संदशेन्न च पीडयेत्॥ श्लोक ५ अ० ८८ शान्ति पर्व॥

४—मधुदोहं दुहेद्राष्ट्रं भ्रमरा इव पादपम्॥ श्लोक ४ अ० ८८ शान्ति पर्व॥

प्रजा से कोमलता पूर्वक राजकोष के निमित्त धन-सञ्चय करना चाहिए ।[1] राजकोष के निमित्त प्रजा पर कर लगाने में बछड़े और गाय के पारस्परिक व्यवहार का अनुसरण करना चाहिए । इस विषय में वह यह कहते हैं--जैसे बछड़ा अपनी माता का दूध-पान करते समय उसके थनों को बड़ी कोमलता तथा इस चतुराई से दबा कर दुग्ध-पान करता है जिससे दान्त से उसके स्थनों को क्षति न पहुँचने पाए, इसी प्रकार राजा को अपनी प्रजा को बिना पीड़ा पहुँचाए हुए राजकोष के निमित्त धन-सञ्चय करना चाहिए ।[2]

इस प्रकार भीष्म ने अनेक उदाहरणों के द्वारा इस सिद्धान्त की स्थापना की है कि राजा को राजकोष की वृद्धि के निमित्त धन-सञ्चय करने के लिए प्रजा से कोमलता पूर्वक धन एकत्र करना चाहिए जिससे प्रजा को लेशमात्र भी क्लेश न होने पाए ।

भीष्म द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त की पुष्टि मानव-धर्म-शास्त्र में भी की गयी है । मानवधर्मशास्त्र में भी जोंक, बछड़ा, और भ्रमर के दृष्टान्त इस सिद्धान्त के समर्थन में दिए गए हैं । मानवधर्मशास्त्र में इस विषय पर यह वर्णन उपलब्ध है---जैसे जोंक, बछड़ा और भ्रमर क्रमशः रक्त, दुग्ध और मधुपान पशु, गाय और पादप से करते हैं और उन्हें यह बोध नहीं होने देते कि उनसे कोई वस्तु ली जा रही है इसी विधि से राजा को भी राजकोष के लिए प्रजा से धन-सञ्चय करना चाहिए ।[3]

इस दृष्टि से मनु और भीष्म दोनों एक मत रखते हैं ।

(ग) लाभ पर कर लगाने का सिद्धान्त--राजकोष के निमित्त कर द्वारा धन-सञ्चय करने का तीसरा सिद्धान्त जिसका प्रतिपादन भीष्म ने किया है यह है कि राजा को प्रजा के मूल-धन पर कर लगाना वर्जित था। मूलधन पर कर लगाने से करदाता की सम्पत्ति का नाश होता है । इसलिए प्रजा को मूलधन पर जो लाभ प्राप्त हो उसी पर राजा को कर लगाना नियम विहित समझा गया था । इस सिद्धान्त की स्थापना करते हुए भीष्म राजा युधिष्ठर को इस प्रकार उपदेश देते हैं--- उत्पत्ति, दान, वृत्ति तथा शिल्प कार्य को देख कर शिल्पकार्य अथवा शिल्पियों के ऊपर राजा को कर निश्चय करना चाहिए ।[4] इसी प्रकार वणिकों के योगक्षेम को देखकर उनको वाणिज्य सम्बन्धी सामग्री एवं वस्तुओं पर कर

१—यथा शल्यकवानाखुपदं धूनयते सदा ।
अतीक्ष्णेनाभ्युपायेन तथा राष्ट्रं समापिवेत ।। श्लोक ६ अ० ८८ शान्ति पर्व ।।

२—वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत् ।। श्लोक ४ अ० ८८ शान्ति पर्व। ।।

३—यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्यौकोवत्सषट्पदाः ।
तथाल्पाल्पोग्रहीतव्योराष्ट्राद्राज्ञाब्दिकःकरः ।।श्लोक १२९ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र।।

४—उत्पत्तिं दानवृत्तिं च शिल्पं संप्रेक्ष्य चासकृत् ।।श्लोक १४ अ० ८७ शान्ति पर्व।।

निर्धारित करना चाहिए।[1] जिस प्रकार से प्रजा का नाश न हो राजा को उसी प्रकार उपाय करना चाहिए। उनके कार्य और उसके फल को भली भांति देखकर तदनुसार कर लगाना चाहिए।[2] फल और कार्य में किसी का भी स्वार्थ न रहने से कर्म में कोई कभी भी प्रवृत्त नहीं होता। जिससे राजा और कार्य करने वाला दोनों ही कर्म के फल के भागी हो सकें वैसा ही विचार करके राजा को सदैव कर स्थापित करना चाहिए।[3] जिसमें अत्यन्त लोभ के कारण आत्म-मूल (राजा) और परमूल (प्रजा के मूलधन) का नाश न हो उसी विधि से लोभ त्याग कर प्रजा पर कर नियत करना चाहिए।[4] राजा को प्रकार (रक्षा हेतु व्यय), सेवकों के लिए व्यय, संग्राम, भय और योगक्षेम देखकर वैश्यों पर कर लगाना चाहिए।[5]

इस प्रकार भीष्म मूल-धन के स्थान में उसके फल पर कर लगाने के पक्ष में हैं। कार्य में जो लागत लगी हो उसको निकाल कर जो उस पर लाभ हुआ हो उसी के अनुरूप लाभ पर कर लगाया जाना चाहिए। ऐसा करने से राजा और प्रजा दोनों का कल्याण होता है, ऐसा भीष्म का मत है। उनका कथन है यदि बछड़े को दूध न देकर गाय का सब दूध दुह लिया जाय तो बछड़ा जीवित न रह सकेगा। वह बलवान होकर ही कष्ट सहन कर सकता है यही नियम प्रजा पर भी चरितार्थ होता है।[6]

राजकोष के निमित्त प्रजा से कर द्वारा धन-सञ्चय करने के इस सिद्धान्त का समर्थन मनु ने भी अपने मानवधर्मशास्त्र में इसी रूप में किया है। वह इस विषय में यह व्यवस्था देते हैं कि राजा को व्यापारियों पर कर लगाने के पूर्व इस बात का भली भांति ध्यान रखना चाहिए कि व्यापारियों को उनका मूलधन, क्रय सम्बन्धी व्यय जो हुआ है और उनके खाने-पीने के निमित्त जो धन पर्याप्त होगा उसके अतिरिक्त जो (मूलधन पर) आय हो उस पर शुल्क ग्रहण करनी चाहिए।[7] इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में भी मूलधन पर कर लगाने का निषेध किया गया है।

१—योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजां कारयेत्करान् ॥ श्लोक १४ अ० ८७ शा० पर्व ॥

२—यथा यथा सीदेरंस्तथा कुर्यान्महीपतिः।
फलं कर्म च संप्रेक्ष्य ततः सर्वं प्रकल्पयेत् ॥ श्लोक १६ अ० ८७ शा० पर्व ॥

३—फलं कर्म च निर्हेतु न कश्चित्संप्रवर्तते।
यथा राजा च कर्ता च स्यातां कर्मणि भागिनौ ॥श्लोक १७ अ० ८७ शा० पर्व॥

४—संवेक्ष्य तु तथा राज्ञा प्रणेयाः सततं कराः।
नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चापि तृष्णया ॥ श्लोक १८ अ० ८७ शा० पर्व ॥

५—प्राकारं भृत्यभरणं व्ययं संग्रामतो भयम्।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य गोमिनः कारयेत्करम् ॥ श्लोक ३५ अ० ८७ शा० पर्व ॥

६—प्रद्विष्टस्य कुतः श्रेयो नाप्रियो लभते फलम्।
वत्सौपम्येन दोग्धव्यं राष्ट्रमक्षीणबुद्धिना ॥ श्लोक २० अ० ८७ शा० पर्व ॥

७—क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजोदापयेत्करान् ॥श्लोक १२७ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

लाभ पर ही कर लगना चाहिए न कि मूलधन पर भीष्म द्वारा प्रतिपादित किए गए इस सिद्धान्त का समर्थन शुक्र ने भी किया है। उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन शुक्रनीति में इस प्रकार किया है—राजा को शुल्क ग्रहण करने में मूलधन को छोड़कर (लाभ का) बीसवां अथवा सोलहवां अंश व्यापारियों से शुल्क रूप में प्राप्त करना चाहिए। जिस व्यापारी को केवल मूलधन की प्राप्ति हुई हो अथवा उसको मूलधन से न्यून मूल्य प्राप्त हुआ हो राजा को इन दोनों प्रकार के व्यापारियों से शुल्क-ग्रहण नहीं करनी चाहिए।[1] राजा को लाभ (Profit) देखकर विक्रेता से शुल्क निर्धारित कर प्राप्त करनी चाहिए।[2]

इस प्रकार भीष्म द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त का समर्थन मनु और शुक्र दोनों ने किया है।

(घ) कर में शनैः शनैः वृद्धि का सिद्धान्त—राजकोष के लिए धन-सञ्चय करने के निमित्त प्रजा पर कर लगाने से सम्बन्धित चौथा सिद्धान्त जिसकी स्थापना भीष्म ने की है यह है कि प्रारम्भ में अत्यन्त अल्प मात्रा में कर लगाया जाना चाहिए। प्रारम्भ में यह कर इतनी अल्प मात्रा में लगाना चाहिए कि जिस पर कर लगाया जाय उसको इस विषय का स्वप्न में भी बोध न होने पाए कि उस पर किसी प्रकार का कर लगाया गया है। प्रथम बार, इस प्रकार, अत्यन्त अल्प कर लगाकर इस अल्प कर में शनैः शनैः वृद्धि करनी चाहिए। कर-वृद्धि को यह प्रणाली इस प्रकार होनी चाहिए जिससे प्रजा को यह बोध न होने पाए कि उस पर कर-वृद्धि की जा रही है। इस सिद्धान्त की स्थापना करते हुए भीष्म बछड़े को भारवहन करने के योग्य बनाने के लिए जिस प्रणाली का आश्रय लिया जाता है उसका उल्लेख करते हुए कहते हैं—राजा को प्रजा पर अत्यन्त अल्प कर लगाना चाहिए और तत्पश्चात धीरे-धीरे उसमें वृद्धि करते जाना चाहिए।[3] जैसे बछड़ों को पहले नम्रता और यत्न से पाश-ग्रहण कराया जाता है और फिर क्रमशः शनैः शनैः अल्प-अल्प भार-वृद्धि करते करते उनको भार-वहन योग्य दमन कर बनाया जाता है।[4] यदि ऐसा न किया जाय किन्तु बछड़े पर एकाएक भार लाद दिया जाए तो बछड़ा आक्रान्तहोकर दमन के अयोग्य हो जाएगा। इसी प्रकार प्रजा पर एकाएक कर-भार के आजाने से

१—विंशांशं व षोडशांशं शुल्कं मूलाविरोधकम्।
न हीन सम मूल्याद्धि शुल्कं विक्रेतृतो हरेत्॥ श्लोक २२० अ० ४ शुक्रनीति॥

२—लाभं दृष्ट्वा हरेच्छुल्कं क्रेतृतश्चसदानृपः॥ श्लोक २२१ अ० शुक्रनीति॥

३—अल्पेनाल्पेन देयेन वर्धमानं प्रदापयेत्।
ततोभूयस्ततो भूयः क्रमवृद्धि समाचरेत्॥ श्लोक ७ अ० ८८ शान्ति पर्व॥

४—दमयन्निव दम्यानि शश्वद्भारं विवर्धयेत्।
मृदुपूर्वं प्रयत्नेन पाशानभ्यवहारयेत्॥ श्लोक ८ अ० ८८ शान्ति पर्व॥

वह् आक्रान्त होकर प्राण त्याग देगी अथवा विद्रोही बन जाएगी। इसलिए राजा को प्रजा पर कर लगाने एवं उनके ग्रहण करने में भी इसी नीति का आश्रय लेना चाहिए।[१] इस प्रकार भीष्म ने इस सिद्धान्त की स्थापना की है कि सर्व प्रथम कर अत्यन्त अल्प मात्रा में लगाना चाहिए पुनः शनैः शनैः उसमें अल्प-अल्प करके वृद्धि करनी चाहिए।

(ङ) जनमत के आधार पर करनिर्धारित करने का सिद्धान्त—राजकोष के निमित्त कर निर्धारित करने का पांचवां सिद्धान्त जिसकी स्थापना भीष्म द्वारा की गयी है जनमत के आधार पर कर-निर्धारित करने का सिद्धान्त है। इस विषय में भीष्म का मत है कि प्रजा पर कर लगाए जाने के पूर्व प्रजा में उस कर के पक्ष में जनमत का निर्माण हो जाना चाहिए जिससे उस कर के लगाने का विरोध प्रजा न कर पाए और वह उसे सहर्ष स्वीकार कर ले। इस विषय में भीष्म राजा युधिष्ठिर को इस प्रकार आदेश देते हुए कहते हैं—राजा को इस विषय की सूचना कि उसको राज्य के निमित्त धन की आवश्यकता है अपने राज्य की प्रजा को देनी चाहिए।[२] इसके अनन्तर, राज्य में भय उपस्थित है इस विषय को प्रकाशित करना चाहिए। राज्य में शत्रु से महान भय उपस्थित हुआ है। बांस में फूल की भांति वह भय मूल (राज्य) के नाश का कारण होगा।[३] यद्यपि राज्य का यह शत्रु अपने नाश के हेतु ही डाकुओं को साथ लेकर प्रबल बनकर हमारे राज्य को पीड़ित करने की अभिलाषा कर रहा हैं;[४] तो भी उपस्थित घोर आपद् तथा प्रचण्ड भय से मैं तुम लोगों का परित्राण करूँगा, इसलिए शत्र से युद्ध करने के निमित्त मैं तुम लोगों से धन-ग्रहण करने की इच्छा करता हुँ।[५] उपस्थित भय नष्ट होने से तुम लोग मेरे समीप से उस धन को फिर प्राप्त कर सकोगे। परन्तु शत्रु बल पूर्वक इस राज्य से जो धन ग्रहण करेंगा उसे तुम फिर न पा सकोगें।[६] इस समय यदि तुम लोग

१—सकृत्नशावकीर्णास्ते न भविष्यन्ति दुर्दमाः।
उचितेनैव भोक्तव्यास्ते भविष्यन्ति यत्नतः॥ श्लोक ६ अ० ८८ शान्ति पर्व॥

२—प्रागेव तु धनादानमनुभाष्यततः पुनः।
सन्निपत्य स्व विषये भयं राष्ट्रे प्रदर्शयेत्॥ श्लोक २६ अ० ८७ शान्ति पर्व॥

३—इयमापत्समुत्पन्ना पर चक्रभयं महत्।
अपि चान्ताय कल्पन्ते वेणोरिव फलागमाः॥ श्लो २७ अ० ८७ शान्ति पर्व॥

४—अरयो मे समुत्थाय वहुभिर्दस्युभिः सह।
इदमात्मवधायैव राष्ट्रमिच्छन्ति बाधितुम्॥ श्लोक २८ अ० ८७ शान्ति पर्व॥

५—अस्यामपदि धोरायां संप्राप्ते दारुणे भये।
परित्राणाय भवतः प्रार्थयिष्ये धनानि वः॥ श्लोक २९ अ० ८७ शान्ति पर्व॥

६—प्रति दास्ये च भवतां सर्वं चाहं भयक्षये।
नारयः प्रतिदास्यन्ति युद्धरेयुर्बलादितः॥ श्लोक ३० अ० ८७ शान्ति पर्व॥

स्त्री–पुत्रों के निमित्त धन-सञ्चय करने की अभिलाषा से साधारण सी सहायता के निमित्त मुझे धन देने में विमुख होगे, तो शत्रुओं के द्वारा स्त्री–पुत्रों के पीछे तुम लोगों का प्राण नाश होगा।[१] और इस समय यदि तुम लोग मेरे सहकारी बनकर मेरी सहायता करोगे तो मैं इस राज्य को उपद्रव रहित कर पुत्र की भाँति तुम लोगों को साथ लेकर आनन्द का अनुभव करूँगा।[२] जैसे भार ढोने के समय गुरु भार बहुत से लोगों के द्वारा उठाया जाता है उसी प्रकार मुझको तुम लोगों के साथ आपद् के समय में भार उठाना पड़ेगा। देखो! आपद् उपस्थित होने पर धन को अत्यन्त प्रिय समझना उचित नहीं है।[३] इस प्रकार के मधुर एवं युक्ति युक्त बचनों से प्रजा में धन देने के पक्ष में मत उत्पन्न-कर धन-ग्रहण करना चाहिए।[४]

इस सिद्धान्त की पुष्टि में भीष्म राजा युधिष्ठिर को समझाते हुए दूसरे स्थल पर इस प्रकार कहते हैं—हे राजन! यदि शत्रु के राज्य पर आक्रमण करने से तुम्हारा बहुत सा धन व्यय हो चुका हो, तो तुम प्रजा को समझा कर ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य लोगों पर कर लगा कर धन का संग्रह कर सकते हो।[५] इस प्रकार भीष्म ने उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि की है।

(च) अधिक कर न लगाने का सिद्धान्त—राजकोष की वृद्धि के लिए प्रजा से धन सञ्चय करने का छटवां सिद्धान्त यह था कि उसको अधिक मात्रा में कर नहीं लगाना चाहिए। प्रजा की सामर्थ्य देखकर समयानुकूल नियमानुसार कर लगाना चाहिए।[६] जिस राजा की प्रजा कर भार से लदी होने के कारण दुखी रहती है वह राजा निन्दनीय माना गया है। इसी विषय को ध्यान में रखकर भीष्म ने यह प्रश्न युधिष्ठिर से किया है—क्या तुम्हारे राज्य में व्यापारी लोग कर भार के कारण व्याकुल तो नहीं होते।[७]

१—कलत्रमादिनः कृत्वा सर्वं वो विनशेदिति।
अपि चेत्पुत्रदारार्थमर्थसञ्चय इष्यते॥ श्लोक ३१ अ० ८७ शान्ति पर्व॥

२—नन्दामिवः प्रभावेण पुत्राणामिव चोदये।
यथा शक्त्युपगृह्णामि राष्ट्रस्यापीडया च वः॥ श्लोक ३२ अ० ८७ शान्ति पर्व॥

३—आपत्स्वेव च वोढव्यं भवद्भिः पुंगवैरिव।
न च प्रियतरं कार्यं धनं कस्यांचिदापदि॥ श्लोक ३३ अ० ८७ शान्ति पर्व॥

४—इति वाचा मधुरयाश्लक्ष्णया सोपचारया।
स्वरश्मीनभ्यवसृजेद्योगमाधाय कालवित्॥ श्लोक ३४ अ० ८७ शान्ति पर्व॥

५—परचक्राभियानेन यदि ते स्याद्धनक्षयः।
अथसाम्नैव लिप्सेथा धनमब्राह्मणेषु यत॥ श्लोक २१ अ० ७१ शान्ति पर्व॥

६—आनुपूर्व्येण सान्त्वेन यथाकालं यथाविधि॥ श्लोक १२ अ० ८८ शान्ति पर्व॥

७—कच्चित्ते वणिजो राष्ट्रे नोद्विजन्ति करार्दिताः॥ श्लोक २३ अ० ८९ शान्ति पर्व॥

बधा जो राज्य के वृहत्भार का वहन करते और सर्व साधारण जनता का उद्धार करते हैं वह कृषक लोग कर-भार से पीड़ित होकर राज्य का परित्याग तो नहीं करते ?[१]

महाभारत के शान्ति पर्व में एक स्थल पर प्रजा पर अधिक कर लगाने वाले राजा को "अतिरवादी" नाम से सम्बोधित कर उसकी निन्दा की गयी है। इस विषय में भीष्म इस प्रकार कहते हैं--राजा के अतिरवादी (बहुभक्षी) हो जाने से प्रजा उससे द्वेष करने लगती है।[२] राजा के अतिरवादी बन जाने से प्रजा की वही दशा हो जाती है जोकि अति दोहन करने से गाय के बछड़ों की दशा होती है। परन्तु दूसरी ओर जो व्यक्ति बछड़े को भूखा न रखकर गो-दोहन करता है वह बछड़ा बलवान होता है ठीक इसी प्रकार जिस प्रजा पर राजा अधिक कर नहीं लगाता वह प्रजा पुष्ट और बलिष्ठ रहती है वह कष्ट एवं आपत्तियों के सहन करने में समर्थ होती है। इस विषय में भीष्म कहते हैं—जैसे लोग बछड़े को भूखा न रखकर गऊ दुहते हैं वैसे ही बुद्धिमान राजा को राज्य को दुहना (प्रजा पर कर लगाना) चाहिए क्यों कि बछड़ा (प्रजा) बलवान होने पर ही कष्ट सहन कर सकता है।[३] जैसे गाय के अधिक दुह लेने से बछड़ा कर्म करने में समर्थ नहीं होता, वैसे ही अत्यन्त दोहन करने (अधिक कर लगाने) से राष्ट्र भी महत्कार्य नहीं कर सकता।[४]

इस प्रकार भीष्म प्रजा के ऊपर अधिकमात्रा में करों में आरोपण करने के विरोधी थे। वह प्रजा और राजा दोनों का कल्याण इस बात में समझते थे कि अपनी प्रजा पर केवल इतनी मात्रा में होकर लगाए जिसको प्रजा सुख पूर्वक बहन करने में समर्थ हो।

(छ) प्रजा रक्षण के निमित्त कर लगाने का सिद्धान्त---प्राचीन भारत के राजशास्त्र के प्रत्येक प्रणेता ने प्रजा-रक्षण कार्य राजा का परम धर्म बतलाया है। प्रजा रक्षण कार्य के निमित्त धन की आवश्यकता होती है अतः ऐसी परिस्थितियों में जब कि बाहरी आक्रमणों के कारण प्रजा की शान्ति-भंग होने की सम्भावना हो तो राजा को इसका सामना करना चाहिए। इस कार्य के लिए यदि धन की आवश्यकता हो तो राजा प्रजा पर कर लगाकर धन-सञ्चय

१---कच्चित्कृषिकरा राष्ट्रं न जहत्यतिपीडिताः।
ये वहन्ति धुरं राज्ञां ते भरन्तीतरानपि॥ श्लोक २४ अ० ८६ शा० पर्व॥

२---प्रद्विषन्ति परिख्यातं राजानमतिखादिनम्॥ श्लोक १६ अ० ८७ शा० पर्व॥

३---भृतो वत्सो जातबलः पीडां सहति भारत।
न कर्म कुरुते वत्सोभृशं दुग्धो युधिष्ठिरः॥ श्लोक २१ अ० ८७ शा० पर्व॥

४---राष्ट्रमप्यति दुग्धं हि न कर्म कुरुते महत्।
यो राष्ट्र मनु गृह्णाति परिरक्षन्स्वयं नृपः॥ श्लोक २२ अ० ८७ शा० पर्व॥

कर सकता है। जब राज्य की भली भांति रक्षा हो जाती है तो धन-धान्य से राज्य की वृद्धि होती है। इस विषय में भीष्म इस प्रकार अपने विचार प्रकट करते हैं—जब राजा पृथ्वी की भली भांति रक्षा करता है तो पृथ्वी धन-धान्य और स्वर्ण की उत्पत्ति अपने और प्रजाओं के लिए इस प्रकार करती है, जैसे संतुष्ट हुई माता अपने बच्चे के लिए पय-दान करती है।[१] इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप में भीष्म इस ओर संकेत करते हैं कि प्रजा-रक्षण के आधार पर राजा को अपनी प्रजा पर कर लगाने का अधिकार है।

इसी प्रसंग में वह इस प्रकार अपना मत प्रकट करते हैं—यदि शत्रु के देश पर आक्रमण करने से राजा का बहुत सा धन व्यय हो गया हो तो प्रजा को समझा-बुझाकर ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य लोगों पर राजा कर लगाकर धन-संग्रह कर सकता है।[२] इसके अतिरिक्त वह एक अन्य स्थल पर इस प्रकार कहते हैं—राजा को अपनी प्रजा से बलि (एक प्रकर का कर) भी ग्रहण करना चाहिए वह उपज का छठवां भाग होना चाहिए। इस कर को उसको प्रजा की रक्षा में व्यय करना चाहिए।[३] इस प्रकार यहां पर कर प्राप्ति प्रजा की रक्षा हेतु मानी गयी है। इसी प्रसंग में वह दूसरे स्थल पर यह व्यवस्था देते है—राजा को प्रजा से छठवां भाग कर (बलि) ग्रहण कर उससे प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। जो राजा अपनी बलि तो ग्रहण करता है परन्तु उससे प्रजा की भली-भांति रक्षा नहीं करता वह राजा चोर (तस्कर) कहलाता है।[४]

इस प्रकार भीष्म ने इन शब्दो में उपर्युक्त सिद्धान्त की स्थापना की है।

भीष्म द्वारा प्रतिपादित प्रजा-रक्षण के निमित्त कर लगाने के इस सिद्धान्त की पुष्टि मानवधर्मशास्त्र में भी की गयी हैं। मानवधर्मशास्त्र में मनु इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए कहते हैं—जो राजा प्रजा से विभिन्न प्रकार से राजकरों को तो ग्रहण करता है परन्तु प्रजा की रक्षा नहीं करता वह शीघ्र नरक को जाता है।[५]

१—दोग्ध्री धान्यं हिरण्यं च मही राज्ञा सुरक्षिता।
नित्यं स्वेभ्यः परेभ्यश्च तृप्ता माता यथा पयः ॥श्लोक १९ अ० ७१ शा० पर्व॥

२—परचक्राभियानेन यदि ते स्याद्धनक्षयः।
अर्थ साम्नैव लिप्सेथा धनमब्राह्मणेषु यत् ॥ श्लोक २१ अ० ७१ शा० पर्व ॥

३—आददीत बलिं चापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दन।
स षड्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये ॥ श्लोक २५ अ० ६९ शा० पर्व ॥

४—बलि षड्भागमुद्धृत्य बलिं समुपयोजयेत्।
न रक्षति प्रजाः सम्यग्यः स पार्थिव तस्करः ॥श्लोक १०० अ० १३९ शा० पर्व॥

५—योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः।
प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥श्लोक ३०७ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

शुक्रनीति में भी राजा को प्रजा की रक्षा के आधार पर कर लगाने का अधिकार दिया गया हैं। शुक्रनीति में राजा प्रजा की रक्षा करने के कारण ही समस्त करों का भोक्ता माना गया हैं।[१]

(ज) राजा के वेतन का सिद्धान्त---प्राचीन भारत में राजा प्रजा का वेतनभोगी सेवक माना गया है। प्रजा के योग-क्षेम के निमित्त राजा की स्थापना की जाती हैं और राजा द्वारा सम्पादित होने वाले कार्यों के निमित्त उसका वेतन नियत कर दिया जाता है जो करों के रूप में राजा को प्राप्त होता है। जो राजा प्रजा के योग-क्षेम सम्बन्धी कार्य-सम्पादन में प्रमाद करता और अपने निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता है वह उस वेतन की प्राप्ति के अधिकार से वञ्चित कर दिया जाता है। इस प्रकार प्रजा से कर द्वारा धन के प्राप्त करने का वही राजा अधिकारी समझा गया है। जो इस प्रकार प्राप्त धन के द्वारा प्रजा के योग-क्षेम में निरन्तर प्रयत्नशील रहता हैं।

भीष्म भी इस सिद्धान्त में आस्था रखते थे। उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कि करों द्वारा जो धन राजा प्रजा से प्राप्त करता है वह प्रजा द्वारा निर्धारित किया हुआ राजा का वेतन मात्र है और उसके पाने का वही राजा अधिकारी है जो इस प्रकार प्राप्त धन के द्वारा प्रजा के योग-क्षेम सम्बन्धी कार्य विधिवत सम्पन्न करता है। शान्ति पर्व में भीष्म राजा युधिष्ठिर को प्रजा से धन प्राप्त करने का उल्लेख करते हुए, यह स्पष्ट बतलाते हैं कि बलि, शुल्क, दण्ड आदि करों द्वारा जो धन प्राप्त होता है वह राजा का वेतन होता हैं।[२]

मार्कण्डेय पुराण में भी इस सिद्धान्त की पुष्टि की गयी हैं। इस पुराण में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए यह स्वीकार किया गया है कि प्राचीन काल में बलि नाम के कर द्वारा प्राप्त धन राजा का वेतन माना जाता था।[३]

धन-संग्रह करने के साधन---भीष्म ने कृषि, गोरक्षा, और वाणिज्य मनुष्य के जीवन-निर्वाह के मुख्य व्यवसाय माने हैं। भीष्म इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए इस प्रकार व्यवस्था देते हैं--- कृषि, गोरक्षा, और वाणिज्य से इस लोक में प्राणियों का जीवन-निर्वाह होता हैं।[४] भीष्म के इस कथन से यह विदित होता है कि उनके समय में यही तीन मुख्य व्यवसाय थे जिनके आश्रित लोग अपना जीवन निर्वाह करते थे। यह तीन व्यवसाय कृषिकार्य, व्यापार,

---

१---राजारक्षार्थं सर्वभागभुक् ।। श्लोक ७४ अ० १ शुक्रनीति ।।

२---बलिषष्ठेन शुक्लेन दण्डेनाथापराधिनाम् ।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम् ।। श्लोक १० अ० ७१ शा० पर्व ।।

३---निरूपितमिदं राज्ञः पूर्वैरक्षणवेतनम् ।
गृह्णतो बलि षड्भागं नृपतोर्नरको ध्रुवम् ।।श्लोक १२६ अ० १६ मार्कण्डेयपुराण।।

४---कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं लोकानामिह जीवनम् ।। श्लोक ७ अ० ८९ शा० पर्व ।।

और पशुपालन थे। इसलिए राज्य के कोष में धन संग्रह के यही तीन मुख्य साधन उस युग में मानें जाएँगे। इन तीन साधनों का उल्लेख महाभारत के शान्ति पर्व में किया गया है। भीष्म ने मनु को प्रजा द्वारा राजा बनाने की कथा का वणन किया है। इस कथा में यह भी बतलाया गया है कि प्रजा ने मनु को धान्य, पशु, और स्वर्ण में से कुछ अंश उनके राजकोष के लिए कर के रूप में प्रदान करते रहने का वचन दिया था।[1] इस प्रकार यहां पर कृषि की उपज, पशुओं की वृद्धि, एवं व्यापार से धन प्राप्ति में से कुछ अंश राजकोष के निमित्त देनें का बचन दिया गया है। अतः यहां राजकोष के निमित्त धन-सञ्चय के कृषि, पशुपालन, और व्यापार यह तीन मुख्य साधन माने गए हैं।

परन्तु इन तीन मुख्य साधनों के अतिरिक्त कतिपय अन्य साधनों की ओर भी भीष्म ने संकेत किया है। भीष्म ने एक स्थल पर, अपराधियों पर अर्थ-दण्ड होना चाहिए और अर्थ-दण्ड के रूप में प्राप्त यह धन राजकोष में सञ्चित होना चाहिए व्यवस्था दी है। इस विषय में भीष्म इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—शास्त्र के अनुसार अपराधियों को दण्डित करके जो धन प्रात्त हो उसको राजकोष में सञ्चित करना चाहिए।[2]

महाभारत के शान्ति पर्व में एक स्थल पर भीष्म खान, लवण उत्पत्ति के स्थान, चुंगी के स्थान, नदीसन्तरण और हाथियों के समूह आदि के आय-व्यय के कार्यों में राजा को प्रजा के हितकारी आप्तपुरुषों की नियुक्ति का आदेश देते हैं।[3] भीष्म द्वारा दी गयी इस व्यवस्था से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि खान, लवण, नदीसन्तरण, हाथियों आदि के व्यापार पर कर लगाए जाते थे जिनकी आय राजकोष में सञ्चित की जाती थी। इस प्रकार राजकोष के निमित्त धनसंग्रह के अनेक साधन थे जिनका उल्लेख भीष्म ने शान्ति पर्व में किया है। इन साधनो का संक्षिप्त परिचय यहां दिया जाएगा।

(क) बलि—प्रजा के रक्षणार्थ राजा के द्वारा जो व्यवस्था की जाती थी उसके कार्यान्वित करने के लिए राजा को धन की आवश्यकता पड़ती थी। इस धन की प्राप्ति हेतु प्रजा राजा को कर रूप में धन-धान्य तथा अन्य आवश्यक सामग्री प्रदान करती थी। प्राचीन भारत में इस कर को बलि नाम से सम्बोधित किया गया है। यह कर विशेष रूप में ग्रामवासियों पर लगाया जाता था।

१—पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च ।। श्लोक २३ अ० ६७ शा० पर्व ।।
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्धनम् ।। श्लोक २४ अ० ६७ शा० पर्व ।।

२—बलिषष्ठेन शुक्लेन दण्डेनाथापराधिनाम् ।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम् ।। श्लोक १० अ० ७१ शा० पर्व ।।

३—आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा ।
न्यसेदमात्यान्नृपतिः स्वाप्तान्वा पुरुषान्हितान् ।। श्लोक २९ अ० ६९ शा० पर्व ।।

और जो मास--मास में अथवा प्रत्येक वर्ष के अन्त में संग्रहीत कर राज-कोष मे सञ्चय हेतु भेजा जाता था। शान्ति पर्व के अध्ययन करने से विदित होता है हैं कि यह कर आय का षडांश रूप में सञ्चय किया जाता था। भीष्म इस विषय में यह व्यवस्था देते हैं--राजा को अपनी प्रजा से बलि कर भी ग्रहण करना चाहिए। यह कर उपज का छठवां भाग होना चाहिए। इस कर के द्वारा प्राप्त आय प्रजा की रक्षा में व्यय होनी चाहिए।[1] महाभारत के शान्ति पर्व में ही दूसरे स्थल पर कर द्वारा प्राप्त धन को राजा का वेतन बतलाते हुए यह बतलाया गया हैं कि बलि नाम का एक प्रकार का कर होता था जो आय का छठवां भाग माना गया है।[2]

मानवधर्मशास्त्र में जो बलि कर का स्वरूप दिया गया है उसमें और भीष्म द्वार दिए गए बलि कर में समानता प्रतीत होती है। मनु भी इसी सिद्धान्त को मानते हैं कि प्रजा के रक्षणार्थ राजा के द्वारा जो धन-धान्य एवं अन्य सामग्री प्राप्त होती थी बलि कर के नाम से सम्बोधित की जाती थी। यह कर आय का छठवां भाग होता था और विशेष रूप में ग्रामवासियों पर लगता था जो मास-मास अथवा वर्ष के अन्त में संग्रहीत कर राजकोष में सञ्चय हेतु भेजा जाता था।[3]

(ख) पशुओं पर कर---जैसा कि पीछे वर्णन किया गया है कि भीष्म ने प्राणियों के भरण-पोषण के निमित्त कृषि, पशुपालन और व्यापार यह तीन मुख्य व्यवसाय बतलाए हैं। इनमें सबसे प्रधान व्यवसाय कृषि माना गया है। कृषि के उप-रान्त पशुपालन का विशेष महत्त्व माना गया है। पशुपालन व्यवसाय का संघठन करना एवं उसकी वृद्धि तथा विकास के निमित्त प्रत्येक प्रकार की सुविधा का प्रदान करना राज्य का कर्त्तव्य था। इसलिए राज्य इस व्यवसाय के धारण करने वाले एवं उससे लाभ उठाने वालों पर एक प्रकार का कर निर्धारित करता था। इस कर की दर के विषय में भीष्म इस विषय का उल्लेख करते हैं कि प्रजा ने जब मनु को अपना राजा बनाया था तो उस समय उन्होंने यह बचन दिया था कि पशु के लाभ का पचासवां भाग वह अपने राजा मनु को कर के रूप में दिया करेंगे।[4] इससे विदित होता हैं कि पशुओं की आय का पचासवां भाग राजा को कर के रूप में शास्त्रा-नसार प्राप्त होना चाहिए।

१—आददीत बलिं चापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दनः।
स षड्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये॥ श्लोक २५ अ० ६९ शा० पर्व॥

२—बलिषष्ठेन शुक्तेन दण्डेनाथापराधिनाम्।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम्॥ श्लोक १० अ० ७१ शा० पर्व॥

३—बलिषड्भागहारिणम् ॥ श्लोक ३०८ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

४—पशूनामधिपञ्चाशत् ॥ श्लोक २३ अ० ६७ शा० पर्व॥

मानवधर्मशास्त्र में भी पशुओं पर कर लगाने का आदेश इसी रूप में दिया गया है। मानवधर्मशास्त्र में भी महाभारत के शान्ति पर्व के अनुसार पशुओं पर कर लगाने की व्यवस्था दी गयी है। इस व्यवस्था के अनुसार पशुओं की वृद्धि का पचासवां भाग राजा को प्रजा से राजकोष के निमित्त कर के रूप में ग्रहण करना चाहिए। इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में इस प्रकार व्यवस्था दी गयी है--पशु और स्वर्ण के लाभ का पचासवां भाग राजा के द्वारा ग्रहण किया जाना चाहिए।[१]

शुक्र ने भी पशुओं पर कर लगाने का विधान किया है। इस कर के विषय में शुक्रनीति में इस प्रकार की व्यवस्था दी गयी है—भैंस, गाय, बकरी, भेंड़, और अश्वों की वृद्धि में से आठवां भाग राजा को राजकर के रूप में ग्रहण करना चाहिए।[२] इस दृष्टि से भीष्म और मनु शुक्र की अपेक्षा अधिक उदार हैं। वह पशु कर के विषय में शुक्र की अपेक्षा कम कर लगाए जाने के पक्ष में हैं।

इस प्रकार भीष्म के द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त की कि पशुओं पर कर लगाना चाहिए मनु और शुक्र ने सम्पुष्टि की है।

(ग) स्वर्ण पर कर--भीष्म ने स्वर्ण पर भी कर लगना चाहिए ऐसी व्यवस्था दी है। इस विषय में यह स्पष्ट बतलाया नहीं गया कि स्वर्ण की उत्पत्ति पर कर लगाना चाहिए अथवा जो स्वर्ण का व्यापार करता हो उस पर यह कर लगना चाहिए। परन्तु प्रसंग से ऐसा विदित होता है कि स्वर्ण की उत्पत्ति पर यह कर लगाया जाता होगा। इस कर की दर के विषय में भीष्म यह कहते हैं कि जब जनता ने मनु को अपना राजा वरण किया था उस समय की प्रजा ने स्वर्ण की आय के पचासवें भाग को राजा मनु के राजकोष के निमित्त देतेरहने का वचन दिया था।[३] इस कथन से विदित होता हैं कि भीष्म इस सिद्धान्त की स्थापना करते हैं कि स्वर्ण पर कर लगाना चाहिए और यह कर स्वर्ण के लाभ का पचासवां भाग होना चाहिए।

मनु ने भी मानवधर्मशास्त्र में सुवर्ण की आय पर कर लगाने की व्यवस्था दी है। उनके मतानुसार भी सुवर्ण के आय का पचासवां भाग राजा को राजकोष के निमित्त कर रूप में प्राप्त होना चाहिए। उन्होने इस विषय की स्पष्ट व्यवस्था दी है कि पशु और सुवर्ण के लाभ का पचासवां भाग राजा के द्वारा (प्रजा से कर के रूप में) ग्रहण किया जाना चाहिए।[४]

१--पञ्चाशद्भागआदेयोराज्ञा पशुहिरण्ययोः ॥श्लोक १३०अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२—अजाविगो महिष्यश्व वृद्धितोऽष्टमांशमाहरेत् ॥ श्लोक २३१ अ० ४ शुक्रनीति ॥

३--पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च ॥ श्लोक २३ अ० ६७ शा० पर्व ॥

४--पञ्चाशद्भागआदेयोराज्ञा पशुहिरण्ययोः ॥श्लोक १३० अ० ७ मानव धर्मशास्त्र॥

कौटिल्य ने भी सुवर्ण पर कर लगाने की व्यवस्था दी है। वह सुवर्ण के लाभ पर कर लगाने के शिद्धान्त की स्थापना प्राचीन काल के एक दृष्टान्त के आधार पर करते हैं। वह इस ओर संकेत करते हैं कि प्राचीन काल में जब कि मात्स्यन्याय का प्रावल्य था लोगों ने मिलकर विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना राजा इसलिए बनाया कि वह उनकी रक्षा करेंगे और उन्हें उस पाशुविक जीवन से सभ्य जीवन में लाएंगें उसी अवसर पर उन्होंने अपने इस मनु राजा के राजकोष के निमित्त धन-सञ्चय के हेतु कतिपय करों के रूप में धन देने का बचन दिया था। इन करों में सुवर्ण का भी कुछ अंश गिनाया गया है।[1] इस प्रसंग के आधार पर विदित होता है कि भीष्म के इस सिद्धान्त की पुष्टि कौटिल्य ने भी की है।

शुक्रनीति में भी सुवर्ण की आय पर कर लगाने का आदेश दिया गया है।[2] इस प्रकार शुक्र भी सुवर्ण की आय पर कर लगाए जाने के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं।

(घ) शुल्क—व्यापारियों को अपनी व्यापारिक सामग्री को, विक्रय हेतु, हाटो अथवा बाजारों को ले जाना पड़ता था। इस प्रकार जाने-आने से हाटों के मार्ग,कर-सीमा (ग्राम के बाहर की चौकी) आदि स्थानों पर उनको एक प्रकार का कर देना पड़ता था जो शुल्क के नाम से प्रसिद्ध था। यह कर आधुनिक काल के चुंगी नाम के कर के समान था। व्यापारिक विभिन्न वस्तुओं अथवा सामग्री पर चुंगी की क्या दर थी, इस विषय का उल्लेख भीष्म ने कहीं नहीं किया। उन्होने कतिपय करों के नाम दिए हैं और उन्ही करों के साथ शुल्क कर का भी उल्लेख किया है[3] जिससे यह विदित होता है कि भीष्म ने शुल्क नामके कर के लागू किए जाने का समर्थन किया है। शुल्क कर का उल्लेख करते हुए वह यह व्यवस्था देते हैं कि शुल्क कर सञ्चय करने के लिए राजा को हितैषी आप्त पुरुषों की नियुक्ति करनी चाहिए[3]। इस प्रकार शुल्क नाम के कर के द्वारा भी राजकोष की वृद्धि करनी चाहिए ऐसा भीष्म का मत है।

शुल्क नाम के कर के द्वारा राजकोष की वृद्धि की जानी चाहिए इस विषय में मनु भी भीष्म के मत से पूर्ण सहमत हैं। उन्होंने भी राजा के राजकोष के निमित्त धन-सञ्चय के लिए प्रजा पर कतिपय कर लगाने का आदेश दिया है। इन करों में शुल्क नाम का एक कर भी बतलाया गया है जिससे विदित होता है कि मनु भी शुल्क कर को मान्यता देते हैं। इस विषय में वह यह व्यवस्था देते हैं—जो

१—धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः॥
वार्ता ७ अ० १३ अधि० १ अर्थशास्त्र॥

२—स्वर्णादथ च रजतात्तृतीयांशं च ताम्रतः॥ श्लोक २२८ अ० ४ शुक्रनीति॥

३—आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा।
न्यसेदमात्यान्नृपतिः स्वाप्तान्वा पुरुषाह्नितान्॥ श्लोक २९ अ० ६९ शा० पर्व॥

राजा अपनी प्रजा की रक्षा न करता हो परन्तु बलि, कर, शुल्क, भाग तथा दण्ड आदि करों के द्वारा प्रजा से धन-ग्रहण करता है वह शीघ्र नरकगामी होता है।[१]

शुल्क के वास्तविक स्वरूप का स्पष्ट वर्णन शुक्रनीति में उपलब्ध है। शुक्रनीति में शुल्क कर की परिभाषा करते हुए बतलाया गया है कि क्रय-कर्त्ता अथवा विक्रय-कर्त्ता को जो धन राजा के लिए कर के रूप में देना पड़ता था शुल्क कहलाता था।[२] शुल्क-सञ्चय करने के स्थान हाटों के मार्ग और कर सीमा (नगर अथवा ग्राम के बाहर की चौकी) आदि शुक्रनीति में बतलाए गए हैं।[३] क्रय-विक्रय की सामग्री पर शुल्क कर लगाने का एक विशेष नियम शुक्रनीति में यह बतलाया गया है कि वस्तु, सामग्री अथवा पशु आदि पर एक बार ही शुल्क कर लगाया जाना चाहिए अनेक बार नहीं।[४] शुक्रनीति में यह आदेश दिया गया है कि राजा को छल-कपट का आश्रय लेकर किसी वस्तु अथवा सामग्री आदि पर बार-बार शुल्क कर ग्रहण नहीं करना चाहिए।[५] शुक्रनीति में शुल्क कर की दर भी दी गयी है। वह इस प्रकार है—राजा को वस्तु अथवा सामग्री के विक्रय-कर्त्ता अथवा क्रयकर्त्ता की लागत को छोड़-कर लाभ का सोलहवां अथवा बीसवां भाग शुल्क कर के रूप में ग्रहण करना चाहिए।[६] जिस वस्तु अथवा सामग्री पर विक्रय-कर्त्ता को उसकी लागत ही मूल्य में प्राप्त हुई हो अथवा लागत से न्यून मूल्य प्राप्त हुआ हो राजा को ऐसी वस्तु अथवा सामग्री पर शुल्क ग्रहण नहीं करनी चाहिए, ऐसा शुक्र का मत है।[७] वस्तु अथवा सामग्री की लागत पर जैसा लाभ प्राप्त हो उसी के अनुसार शुल्क ग्रहण करनी उचित है।[८] गाय, भैंस आदि के दुग्ध, अन्न, फल आदि पर जो केवल कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिए ही प्रर्याप्त हैं राजा को शुल्क नहीं लेनी चाहिए। इसके अतिरिक्त उपभोग के लिए अन्न, वस्त्र आदि के क्रयकर्त्ता पर भी शुल्क नहीं लगनी चाहिए।[९] इस प्रकार शुक्र ने शुल्क कर की व्याख्या की है।

१—योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः।
प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत्॥श्लोक ३०७ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

२—विक्रेतृक्रेतृतो राजभागः शुल्कमुदाहृतम्॥ श्लोक २१७ अ० ४ शुक्रनीति॥

३—शुल्कदेशाहट्टमार्गाः करसीमाः प्रकीर्तिताः॥ श्लोक २१८ अ० ४ शुक्रनीति॥

४—वस्तु जातस्यैक वारं शुल्कं ग्राह्यं प्रयत्नतः॥ श्लोक २१८ अ० ४ शुक्रनीति॥

५—क्वचिन्नैवासकृच्छुल्कं राष्ट्रे ग्राह्यं नृपैश्छलात्॥ श्लोक २१९ अ० ४ शुक्रनीति॥

६—द्वात्रिंशांशं हरेद्राजा विक्रेतुः क्रेतुरेव वा॥ श्लोक २१९ अ० ४ शुक्रनीति॥
विंशांशं वा षोडशांशं शुल्कं मूलाविरोधकम्॥ श्लोक २२० अ० ४ शुक्रनीति॥

७—न हीनसम मूल्याद्धि शुल्कं विक्रेतृतो हरेत्॥ श्लोक २२० अ० ४ शुक्रनीति॥

८—लाभंदृष्ट्वा हरेच्छुल्कं क्रेतृतश्च सदा नृपः॥ श्लोक २२१ अ० ४ शुक्रनीति॥

९—गवादि दुग्धान्नफलं कुटुम्बार्थाद्धिरेन्नृपः।
उपभोगे धान्य वस्त्रक्रेतृतो ना हरेत्फलम्॥ श्लोक २३८ अ० ४ शुक्रनीति॥

कौटिल्य ने भी शुल्क नाम के कर को मान्यता दी है। वह इस कर की दर निर्धारित करते हुए अर्थशास्त्र में इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—स्वभूमि में उत्पन्न तथा परभूमि में उत्पन्न दोनों प्रकार की वस्तुओं के विक्रय में राजा को प्रजा के लाभ का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। यदि राजा को बहुत बड़ा लाभ हो रहा हो, परन्तु उस कार्य के किए जाने से प्रजा पीड़ित हो रही हो तो राजा को ऐसे लाभकारी कार्य को स्थगित कर देना चाहिए।[1] व्याजी वस्तुओं पर सोलहवां भाग शुल्क के रूप में ग्रहण करना चाहिए।[2] जो वस्तुएँ तुलामान (तोलने योग्य) हों उन पर बीसवां भाग[3] और जो द्रव्य गिने जा सकते हैं उनका ग्यारहवां भाग शुल्क के रूप में ग्रहण करना चाहिए, ऐसा कौटिल्य का मत है।[4]

इस प्रकार भीष्म द्वारा प्रतिपादित शुल्क कर सम्बन्धी सिद्धान्त की सम्पुष्टि उनकी अपेक्षा कहीं विस्तृत रूप में मनु, शुक्र और कौटिल्य ने की है।

(ङ) दण्ड——भीष्म राजकोष की वृद्धि के निमित्त धन–सञ्चय का एक साधन दण्ड के रूप में प्राप्त धन भी मानते हैं। राज्य के नियमों को भंग करने वाले व्यक्तियों को राज्य की ओर से कयी प्रकार के दण्ड दिए जाते थे। महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म ने दण्ड के चार प्रकार बतलाए हैं। दण्ड के इन चार प्रकारों का उल्लेख करते हुए वह इस प्रकार व्यवस्था देते हैं——शरीर और मन की तृप्ति हेतु जिन लोगों ने धर्म के नियमों का अतिक्रमण किया है उनको धर्म पूर्वक दण्ड देकर जनता की रक्षा करनी उचित है। इस दण्ड का प्रयोग इच्छानुसार करना उचित नहीं है। दण्ड चार प्रकार का माना गया दै। दुर्वचन से निग्रह करना वाक्‌दण्ड है। हिरण्य (धन) प्राप्त करना द्रव्य दण्ड (अर्थदण्ड) कहलाता है। शरीर की अङ्गहानि करना शारीरिक दण्ड और अधिक अपराध के कारण बध रूप में दण्ड प्राण–दण्ड माना गया है।[5] इसलिए भीष्म के मतानुसार दण्ड का एक प्रकार अर्थ-दण्ड भी था। इस विषय म भीष्म यह व्यवस्था देते हैं—राजा को अपराधियों को शास्त्रानुसार अर्थदण्ड देना चाहिए। यह धन राजा के धन (राजकोष) की आय का एक साधन

१——उभयं च प्रजानामनुग्रहेण विक्रापयेत् ।।वार्ता ७ अ० १६ अधि० २ अर्थशास्त्र ।।
स्थूलमपि च लाभं प्रजानामौपघातिकं वारयेत् ।।
वार्ता ८ अ० १६ अधि० २ अर्थशास्त्र ।।

२——षोडशभागो मानव्याजी ।। वार्ता १२ अ० १६ अधि० २ अर्थशास्त्र ।।

३——विंशतिभागस्तुलामानम् ।। वार्ता १३ अ० १६ अधि० २ अर्थशास्त्र ।।

४——गण्यपण्यानामेकादशभागः ।। वार्ता १४ अ० १६ अधि० २ अर्थशास्त्र ।।

५——धर्मसेतुमतिक्रान्ताः स्थूलसूक्ष्मात्मकारणात् ।। श्लोक ६९ अ० १६६ शा० पर्व ।।
विभज्य दण्डं रक्ष्यास्तु धर्मतो न यदृच्छया ।
दुर्वाचा निग्रहो दण्डो हिरण्य बहुलस्तथा ।। श्लोक ७० अ० १६६ शा० पर्व ।।
व्यङ्गता च शरीरस्य वधो वाऽल्पकारणात् ।। श्लोक ७१ अ० १६६ शा० पर्व ।।

होता है।[1] इस प्रकार इन शब्दों में भीष्म राजकोष के निमित्त अपराधियों के अपराध के अनुसार शास्त्रों के अनुसार अर्थदण्ड के द्वारा धन-सञ्चय की व्यवस्था देते हैं।

मनु ने भी राजकोष की वृद्धि के निमित्त अर्थदण्ड का विधान किया है। वह राजकोष की वृद्धि करने का आदेश देते हैं। उन्होंने मानवधर्मशास्त्र में दण्ड के दस स्थान माने हैं। इनमें एक स्थान धन भी माना गया है।[2] मानवधर्मशास्त्र में वर्णित इस उद्धरण से यह स्पष्ट विदित होता है कि मनु अपराधियों के लिए अर्थ-दण्ड की व्यवस्था देते हैं। इस उद्धरण के अतिरिक्त एक प्रसंग में कतिपय करों के नाम दिए गए हैं। इन करों में दण्ड नाम का भी एक कर ऐसा बतलाया गया है जिसके द्वारा प्राप्त धन राजकोष में सञ्चित किया जाता था। इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में यह व्यवस्था स्पष्ट दी गयी है कि जो राजा बलि, कर, शुल्क, भाग और दण्ड आदि राजकरों के द्वारा प्रजा से धन तो सञ्चय करता है परन्तु उससे प्रजा की रक्षा नहीं करता है वह शीघ्र नरक को जाता है।[3] इस प्रकार मानव-धर्मशास्त्र में यह स्पष्ट बतलाया गया है कि राजा दण्ड द्वारा राजकोष के निमित्त धन-सञ्चय करता था। इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में कई व्यवस्थाएँ भी दी गयी हैं। एक प्रसंग में मानवधर्मशास्त्र में ऐसा बतलाया गया है–क्षुद्र पशुओं की हिंसा में दो सौ (पण) अच्छे मृग, और पक्षियों की हिंसा में पचास पण, गधा और बकरी की हिंसा में पांच-पांच माषक (एक सिक्का) और कुत्ता अथवा सुअर की हिंसा करने में एक माषक दण्ड देना चाहिए।[4]

राजकोष की वृद्धि के निमित्त अर्थदण्ड द्वारा राजा को धन-सञ्चय करने का अधिकार कौटिल्य ने भी दिया है। अर्थशास्त्र में अनेक स्थलों पर इस सिद्धान्त की पुष्टि में उदाहरण दिए गए हैं। उनमें से कतिपय इस प्रकार हैं– दिन या रात्रि में सुरक्षित आधे माशा से दो माशे की वस्तु को बलपूर्वक छीनने वाले व्यक्ति

१—बलिषष्ठेन शुक्तेन दण्डेनाथापराधिनाम्।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम्॥ श्लोक १० अ० ७१ शा० पर्व॥

२—उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम्।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च॥श्लोक १२५ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

३—योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः।
प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत्॥श्लोक ३०७ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

४—क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतोदमः।
पञ्चाशत्तु भवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु॥ श्लोक २९७ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥
गर्धभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमाषिकः।
माषकस्तु भवेद्दण्डः श्वसूकर निपातने॥ श्लोक २९८ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

पर छः पण दण्ड होना चाहिए । दिन अथवा रात्रि में शस्त्र लेकर माशा के चतुर्थांश भाग की वस्तु भी छीनने पर यही दण्ड होना चाहिए ।[१] अथवा अपराध के अनुसार अर्थदण्ड होना चाहिए ।[२] इस प्रकार कौटिल्य दण्ड–व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं । इस व्यवस्था के अन्तर्गत अर्थदण्ड व्यवस्था भी सम्मिलित थी ।

शुक्र भी दण्ड द्वारा राजा को धन-ग्रहण करने की अनुमति देते हैं । उन्होंने भी भीष्म और मनु की भांति राजकोष के निमित्त धन-सञ्चय करने के कतिपय साधनों का उल्लेख किया है । इन साधनों में एक साधन अर्थदण्ड भी बतलाया गया है ।[३] अर्थदण्ड के कतिपय उदाहरण शुक्रनीति में भी दिए गए हैं—एक सहस्त्र पण का अर्थदण्ड उत्तम साहस दण्ड कहलाता था ।[४] दस माशा भर तांबे का एक सिक्का जो राजचिन्ह युक्त होता था पण कहलाता था । एक सहस्त्र पण से आधा दण्ड मध्यम साहस और उससे आधा प्रथम साहस दण्ड होता था । इस प्रकार मध्यम और उत्तम साहस दण्ड को जानना चाहिए । मध्यम साहस अपराध में मध्यम साहस दण्ड होना चाहिए और उत्तम साहस अपराध में उत्तम साहस दण्ड का विधान किया गया है ।[५] इस प्रकार साहस अभियोगों (criminal cases) में अर्थदण्ड दिए जाने चाहिए, ऐसा शुक्र का मत है । दण्ड के रूप में इस प्रकार प्राप्त हुआ धन, शुक्र के मतानुसार, राजकोष में संग्रहीत होना चाहिए ।

इस प्रकार भीष्म द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की पुष्टि कि दण्ड द्वारा राजकोष की वृद्धि होनी चाहिए मनु, कौटिल्य और शुक्र ने भी उसी रूप में की है ।

(च) आकर कर—भीष्म आकर नाम के कर की ओर भी संकेत करते हैं । खनिज पदार्थों पर एक प्रकार के कर लगाने का विधान महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म ने किया है । यह कर किन पदार्थों पर और कितनी मात्रा में लगाना चाहिए इस विषय पर भीष्म मौन हैं । परन्तु इतना अवश्य उन्होंने आदेश दिया है कि इस कर के द्वारा जो धन संग्रहीत किया जाए वह राजकोष में सञ्चित होना चाहिए ।

१—प्रसह्य दिवा रात्रौ वान्तर्यामिमेव हरतोऽर्धमूल्येष्येत् एव द्विगुणा दण्डाः ॥
वार्ता ३१ अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

प्रसह्य दिवा रात्रौ वा सशस्त्रस्यापहरतश्चतुर्भागमूल्येष्वेत एव दण्डाः ॥
वार्ता ३२ अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

२—यथापराधं वा ॥ वार्ता ३४ अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

३—शुल्कदण्डाकर कर भाटकोपायनादिभिः ।
इतरः कीर्तितस्तज्ज्ञै रायो लेखविशारदैः ॥ श्लोक ३२५ अ० २ शुक्रनीति ॥

४—विद्यात्पणसहस्रं तु दण्ड उत्तम साहसः ॥ श्लोक ११२ अ० ४ शुक्रनीति ॥

५—तदर्धश्च तदर्धश्च मध्यमः प्रथमः क्रमात् ।
प्रथमे साहसे दण्डः प्रथमश्च क्रमात् परौ ॥ श्लोक ११४ अ० ४ शुक्रनीति ॥
मध्यमे मध्यमोधार्यश्चोत्तमेतूत्तमो नृपैः ॥ श्लोक ११५ अ० ४ शुक्रनीति ॥

राजा को अपने हितैषी आप्त पुरुषों को आकर कर सञ्चय के लिए नियुक्त करना चाहिए यह व्यवस्था भीष्म ने दी है।[1] इस प्रकार भीष्म इन शब्दों में आकर कर के लागू करने एवं उसके सञ्चय करने की व्यवस्था देते हैं।

आकर कर का विशेष वर्णन शुक्रनीति में दिया गया है। शुक्र ने भी आकर कर को मान्यता देते हुए यह व्यवस्था दी है कि जो धन इस कर के द्वारा संग्रह किया जाए वह राजकोष में संग्रहीत किया जाना चाहिए। शुक्रनीति में इस कर का विशेष बोध कराने के लिए कतिपय व्यवस्थाएं दी गयी हैं जिनमें से कुछ इस प्रकार की हैं—रत्नों एवं क्षार आदि की उत्पत्ति में खान का व्यय निकाल कर जो लाभ हो उसका आधा राजा को राजकोष के निमित्त ग्रहण करना चाहिए। यदि खान के स्वामी को अधिक लाभ हो तो उस लाभ के अनुसार कर ग्रहण कर लेना चाहिए।[2] जिस कृषक को सौ कर्ष रजत प्राप्त हो उसको उसका बीसवां भाग राजा के लिए देना चाहिए।[3] इसी प्रकार लोहा, वंग, शीशा की उपज पर आकर कर लगाने की व्यवस्था दी गयी है।[4]

शुक्रनीति के इस वर्णन से आकर कर का स्पष्ट बोध हो जाता है और इस प्रकार भीष्म द्वारा आकर कर की ओर जो संकेत किया गया है उसकी सम्पुष्टि शुक्र स्पष्ट और पुष्ट शब्दों में करते हैं।

(छ) **लवण-कर**—भीष्म ने लवण पर कर लगाए जाने का आदेश किया है। इस कर के विषय में भीष्म ने कहीं भी इस विषय को स्पष्ट नहीं किया कि इस कर की क्या दर होनी चाहिए? केवल अन्य करों की गणना करते हुए लवण कर का भी उल्लेख किया गया है।[5]

शुक्र ने भी लवण पर कर लगना चाहिए इस प्रकार की व्यवस्था दी है उन्होंने लवण शब्द के स्थान पर क्षार शब्द का प्रयोग किया है और इसे आकर कर के अन्तर्गत माना है। उनका मत है कि लागत को निकाल कर जो लाभ प्राप्त हो उसका आधा राजा को कर के रूप में उसके राजकोष के निमित्त प्राप्त होना चाहिए।[6]

१—आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा।
न्यसेदमात्यान्नृपतिः स्वाप्तान्वा पुरुषाह्नितान्॥ श्लोक २९ अ० ६९ शा० पर्व॥

२—रत्नार्धं चैव क्षारार्धं खनिजाद्व्ययशेषतः।
लाभाधिक्यं कर्षकादेर्यथा दृष्ट्वा हरेत्फलम्॥ श्लोक २२९ अ० ४ शुक्रनीति॥

३—राजभागस्तु रजत शतकर्षमितो यतः।
कर्षकाल्लभ्यते तस्मै विंशांशमुत्सृजेन्नृपः॥ श्लोक २२७ अ० ४ शुक्रनीति॥

४—स्वर्णादथ च रजतात्तृतीयांशं च ताम्रतः।
चतुर्थांशं तु षष्ठांशं लोहाद्वंगाच्चसीसकात्॥ श्लोक २२८ अ० ४ शुक्रनीति॥

५—आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा॥ श्लोक २९ अ० ६९ शा० पर्व॥

६—रत्नार्धं चैव क्षारार्धं खनिजाद्व्ययशेषतः॥ श्लोक २२९ अ० ४ शुक्रनीति॥

इस प्रकार लवण कर से जो धन प्राप्त हो वह, भीष्म के मतानुसार, राजकोष में सञ्चित किया जाना चाहिए, इस सिद्धान्त का समर्थन शुक्र ने भी किया है।

(ज) तरण कर—राज्य में एक स्थान से दूसरे स्थान जाने के लिए आवागमन के साधनों की सुव्यवस्था होनी चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मार्ग में यदि कोई नदी अथवा जलयुक्त अन्य स्थान आजाते हैं तो उनके सन्तरण का समुचित प्रवन्ध राज्य की ओर से होना चाहिए। भीष्म भी इस सिद्धान्त के समर्थक हैं। उनके मतानुसार इन जलयुक्त स्थलों के सन्तरण का प्रवन्ध राज्य की देख-रेख में होना चाहिए। इस कार्य के सम्पादन हेतु धन की आवश्यकता होती है। भीष्म का यह मत है कि यह आवश्यक धन इन स्थलों पर निर्माण किए गए सन्तरण के साधनों के उपयोग करनेवाले व्यक्यिों से प्राप्त करना चाहिए। इसीलिए वह एक प्रकार का कर उन व्यक्तियों पर लगाए जाने का आदेश देते हैं जो कि इन साधनों का उपयोग करते हैं। इस कर को वह तरण कर के नाम से सम्बोधित करते हैं। उन्होंने राजा युधिष्ठिर को यह आदेश दिया है कि राजा को इस कर द्वारा सञ्चित धन का उपयोग प्रजा की रक्षा में करना चाहिए।

यह कर कब, कैसे और किस दर से लगाया जाना चाहिए? इस विषय में भीष्म मौन हैं। उन्होंने केवल इतना बतलाया है कि राजा के राजकोष की वृद्धि का एक साधन तरण कर भी है जिसके प्रवन्ध में राजा को हितैषी एवं आप्त पुरुषों की नियुक्ति करनी चाहिए।[१] परन्तु इस कर के विषय में मनु और कौटिल्य ने कतिपय व्यवस्थाएं स्पष्ट दी हैं, जिनके आधार पर इस कर के वास्तविक स्वरूप का बोध हो जाता है।

मानवधर्मशास्त्र में जहां नदियों के सन्तरण करने पर तरण (तर) कर लगाए जाने की व्यवस्था दी गयी है उसी प्रसंग में तरण-कर की दर भी दी गयी है। इसके अनुसार नदी तरण करनेवाली गाड़ी को एक पण, भारयुक्त मनुष्य को आधा पण, पशु तथा स्त्री पर चौथाई पण और भाररहित मनुष्य पर पण का आठवां भाग तरण कर लेना चाहिए।[२] पात्रों (भाण्ड) से लदी गाड़ियों या वाहनों पर भार के अनुसार तरण कर लगना चाहिए।[३] दो मास से अधिक की गर्भिणी स्त्री, सन्यासी, वानप्रस्थ,

---

१—आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा।
न्यसेदमात्यान्नृपतिः स्वाप्तान्वा पुरुषान्हितान्॥ श्लोक २९ अ० ६९ शा० पर्व॥

२—पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धं पणं तरे।
पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान्॥
श्लोक ४०४ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

३—भाण्डपूर्णानि यानानितार्यं दाप्यानिसारतः।
रिक्तभाण्डानि यत्किञ्चित्पुमांसश्च परिच्छदाः॥
श्लोक ४०५ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

ब्रह्मचारी, ब्राह्मण नदी सन्तरण सम्बन्धी कर से मुक्त रहने चाहिए, ऐसा मानवधर्म शास्त्रकार का मत है।[1] लम्बी उतराई का तरण कर देश कालानुसार लगना उचित होगा। यह नियम नदी सन्तरण से ही सम्बन्धित माने गए हैं। परन्तु समुद्र यात्रा में अन्य नियमों का आश्रय लिया जाना चाहिए, मनु ऐसी व्यवस्था देते हैं।[2] कुछ हेर-फेर के साथ कौटिल्य ने भी इस विषय में लगभग इसी प्रकार व्यवस्थाएँ दी हैं।

इस प्रकार भीष्म द्वारा प्रतिपादित तरण कर के विषय में मनु और कौटिल्य ने अपना मत प्रकट करते हुए उसकी सम्पुष्टि की हैं।

१—गर्भिणीतुद्विमासादिस्तथा प्रव्रजितोमुनिः ।
ब्राह्मणालिङ्गिनश्चैव नदाप्यास्तारिकं तरे ॥
श्लोक ४०७ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत् ।
नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रेनास्ति लक्षणम् ॥श्लोक ४०६ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

षष्ट अध्याय

पुर और जनपद

राज्य के दो मुख्य विभाजन——प्राचीन भारत में शासन की दृष्टि से राज्य के दो मुख्य विभाजन किए जाते थे। यह दो विभाजन पुर और जनपद अथवा राष्ट्र कहलाते थे। पुर से तात्पर्य उस नगर अथवा दुर्ग से था जो राज्य की राजधानी होता था। पुर के क्षेत्र को वहिष्कृत करने के उपरान्त राज्य का जो भाग अवशेष रह जाता था उसको जनपद अथवा राष्ट्र के नाम से सम्बोधित किया जाता था। शासन की दृष्टि से राज्य के जो यह दो विभाजन प्राचीन भारत में माने गए हैं उनसे भीष्म भी सहमत हैं। वह भी राज्य का विभाजन इन्हीं दो भागों में करते हैं। उन्होंने राज्य को पुर और जनपद में विभाजित कर इस विषय में संक्षेप में वर्णन दिया है कि राज्य के इन दो प्रधान क्षेत्रों में किस प्रकार अलग-अलग शासन व्यवस्था की स्थापना होनी चाहिए, और जनपद के विस्तृत क्षेत्र में बिखरे हुए अनेक ग्रामों को किस प्रकार एक सूत्र में गूँथा जा सकता है। इस विषय से सम्बन्धित वर्णन भीष्म के मतानुसार यहाँ दिया जाएगा।

राष्ट्र का संघठन——जनपद में शासन व्यवस्था को सुचारु रूप में संचालित रहने के लिए जनपद की छोटी और बड़ी विभिन्न बस्तियों को विभिन्न वर्गों में संघठित किया गया था। जनपद को इस प्रकार संवठित करने के लिए दशमलव सिद्धान्त को अपनाने की व्यवस्था भीष्म द्वारा प्रतिपादित की गयी है। उन्होंने एक ग्राम, दस ग्राम, बीस ग्राम, सौ ग्राम और सहस्र ग्रामों के अलग-अलग संघठनों का विधान किया है।[1] भीष्म जनपद में शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम मानते हैं। ग्राम के उपरान्त वह दस ग्रामों को संघठित कर उनके शासन की एक संस्था निर्माण करने की व्यवस्था देते हैं। दस ग्रामों के ऊपर सौ और उसके उपरान्त सहस्र ग्रामों के वृहत् क्षेत्रों के शासन की अलग-अलग संस्थाओं के निर्माण करने के लिए उन्होंने राजा युधिष्ठिर को आदेश दिया है। इस प्रकार भीष्म ने जनपद के एक ग्राम, दस ग्राम, बीस ग्राम, सौ ग्राम, और सहस्र ग्रामों के अलग-अलग संघठनों के निर्माण किए जाने का आदेश किया है।

भीष्म द्वारा प्रतिपादित जनपद विभाजन के इस सिद्धान्त का समर्थन मानवधर्मशास्त्र में भी किया गया गया है। मानवधर्मशास्त्र में भी यह व्यवस्था दी गयी

१——ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्राम्यास्तथापरः।
द्विगुणायाः शतस्यैवं सहस्रस्य च कारयेत्॥ श्लोक ३ अ० ८७ शा० पर्व॥

है कि शासन की सुविधा हेतु राष्ट्र–विभाजन दशमलव सिद्धान्त के आधार पर संघठित किया जाना चाहिए । राष्ट्र में शासन की इकाई ग्राम माना गया है । ग्राम के उपरान्त दस ग्राम फिर बीस ग्राम, सौ ग्राम और सहस्त्र ग्रामों के पृथक्-पृथक् संघठन होने चाहिए । मानवधर्मशास्त्र में भी ऐसी व्यवस्था दी गयी है ।[1] इस प्रकार राष्ट्र विभाजन के विषय में भीष्म और मनु दोनों एक ही मत रखते हैं ।

ग्राम––राष्ट्र में शासन की इकाई ग्राम माना गया है । ग्राम में विधिवत शासन प्रबन्ध होता रहे इस उद्देश्य से प्रत्येक ग्राम में राजा की ओर से एक अधिकारी नियुक्त किया जाना चाहिए, ऐसा भीष्म का मत है । ग्राम का समस्त शासन प्रवन्ध उसी अधिकारी की देख-रेख में होना चाहिए । भीष्म ग्राम के इस अधिकारी को ग्रामिक नाम से सम्बोधित करते हैं । इस अधिकारी का कर्त्तव्य भीष्म इस प्रकार बतलाते हैं–– उसके अधीन ग्राम में उत्पन्न होने वाली भोग की समस्त सामग्री में से राजस्व का सञ्चय कर उसको दस ग्राम के अधिकारी के पास भेजना चाहिए ।[2] ग्राम में शान्ति एवं रक्षा की व्यवस्था करना भी इसी अधिकारी का कर्त्तव्य था । यदि ग्राम में किसी प्रकार की अशान्ति अथवा अव्यवस्था अथवा विघ्न-बाधा उपस्थित हो अथवा उसके उपस्थित होने की सम्भावना हो तो ऐसी दशा में इस विषय की समस्त सूचना दस-ग्राम के अधिकारी को देना इसी अधिकारी का कर्त्तव्य बतलाया गया है ।[3]

ग्राम के अधिकारी की नियुक्ति एवं उसके अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के विषय में मनु ने भी मानवधर्मशास्त्र में जो अपने विचार प्रकट किए हैं वह भीष्म के तत्सम्बन्धी विचारों से समानता रखते हैं । मनु इस विषय में यह व्यवस्था देते हैं राजा को एक ग्राम का अधिपति नियत करना चाहिए ।[4] ग्राम के इस अधिकारी को मानवधर्मशास्त्र में भी ग्रामिक नाम से सम्बोधित किया गया है ।[5] ग्रामिक का कर्त्तव्य बतलाते हुए मनु इस प्रकार आदेश देते हैं ग्राम की जनता को अन्न, पान, और इन्धनादि जो सामग्री राजा के निमित्त कर के रूप में प्राप्त होती है उस समस्त सामग्री को ग्रामिक नाम के राजकर्मचारी को सञ्चय करना चाहिए ।[6]

१––ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा ।
विंशतीशं शतेशं सहस्रपतिमेव च ।। श्लोक ११५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

२––यानि ग्राम्याणि भोज्यानि ग्रामिकस्तान्युपाश्नियात् ।
दशपस्तेन भर्तव्यस्तेनापि द्विगुणाधिपः ।। श्लोक ६ अ० ८७ शा० पर्व ।।

३––ग्रामे यान् ग्रामदोषांश्च ग्रामिकः प्रतिभावयेत् ।
तान् ब्रूयाद्दशपायाऽसौ स तु विंशतिपाय वै ।। श्लोक ४ अ० ८७ शा० पर्व ।।

४––ग्रामस्याधिपतिं कुर्यात् ।। श्लोक ११५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

५––ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ।। श्लोक ११६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

६––यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः ।
अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ।। श्लोक ११८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

यदि ग्राम में किसी प्रकार का दोष उत्पन्न हो गया है अथवा उसके उत्पन्न होने की सम्भावना हो तो ग्रामिक को इस विषय की सूचना दसग्राम के अधिपति के पास तुरन्त भेज देनी चाहिए।[१] इस प्रकार ग्राम में राजस्व को प्रजा से सञ्चय करना एवं उसके अधीन ग्राम में सुरक्षा और शान्ति की स्थापना आदि कार्यों के सम्पादन करने की व्यवस्था करने का समस्त भार ग्राम के इसी अधिकारी पर निर्भर था।

इस प्रकार ग्राम के शासन प्रबन्ध के विषय में भीष्म और मनु दोनों का एक ही मत है। इन दोनों ने ग्राम-शासन कार्य ग्रामिक नाम के अधिकारी को सौंपा है।

राज्य के विभिन्न ग्रामों को शासन प्रबन्ध की दृष्टि से एक सूत्र में किस प्रकार गूंथा जाना चाहिए इस विषय में शुक्रनीति में भी कुछ प्रकाश डाला गया है। शुक्र-नीति में कुछ ऐसे राजकर्मचारियों के नाम दिए हैं जो एक ग्राम, दसग्राम, सौ ग्राम, और हजार ग्रामों के अधिपति के नाम से सम्बोधित किए गए हैं और इनके विषय में कुछ वर्णन भी है जो इस प्रकार है—दस ग्राम के अधिपति को नायक कहना चाहिए।[२] जो व्यक्ति सौ ग्रामों का अधिपति होगा उसे सामन्त कहना चाहिए।[३] इसी प्रकार जो व्यक्ति दस हजार ग्रामों से कर ग्रहण करने के पदपर नियुक्त किया गया है वह आशापाल कहलाएगा।[४] परन्तु इस वर्णन से इस विषय का स्पष्ट बोध नहीं होता कि इन विभिन्न अधिपतियों में क्या सम्बन्ध रहता था। यह अवश्य निष्कर्ष निकलता है कि यह अधिकारी एक दूसरे के अधीन कतिपय विषयों में अवश्य रहे होंगे अर्थात् ग्राम का अधिकारी दस ग्राम के अधिपति के अधीन और दस ग्राम का अधिपति सौ ग्रामों के अधिपति के अधीन इत्यादि।

ग्राम के शासन प्रबन्ध के विषय में जितना विस्तृत वर्णन शुक्रनीति में वर्णित है उतना भीष्म अथवा मनु में से किसी ने भी नहीं दिया है। शुक्रनीति में ग्राम के अधिकारियों का उल्लेख है, जिसके आधार पर ऐसा ज्ञात होता है कि प्रत्येक ग्राम में इन अधिकारियों की नियुक्ति राजा के द्वारा होनी चाहिए, शुक्र इस सिद्धान्त के पोषक थे। ग्राम के इन अधिकारियों की संख्या छः बतलायी गयी है। इन्हीं छः अधिकारियों के द्वारा ग्राम का शासन प्रबन्ध होना चाहिए, ऐसा शुक्र का मत है। इन छः अधिकारियों के नाम इस प्रकार हैं—पहला साहसाधिपति, दूसरा ग्रामनेता

१—ग्रामदोषान्समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।
शंसेत् ग्रामदशेशाय × × × ॥ श्लोक ११६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—अधिकृतो दशग्रामे नायकः स च कीर्तितः ॥ श्लोक १९१ अ० १ शुक्रनीति ॥

३—शतग्रामाधिपो यस्तु सोऽपि सामन्त संज्ञकः ॥ श्लोक १९० अ० १ शुक्रनीति ॥

४—आशापालोयुतग्राम भागभाक् ॥ श्लोक १९१ अ० १ शुक्रनीति ॥

तीसरा भाग हार, चौथा लेखक, पांचवां शुल्कग्राहक और छठा प्रतिहार है।[1] साहसाधिपति दण्ड विधायक बतलाया गया है। इसका कर्त्तव्य ग्रामवासियों के पारस्परिक कलहों का निर्णय करना था। इसीलिए साहसाधिपति को, शुक्रनीति में, दण्ड-विधायक नाम से भी सम्बोधित किया गया है। साहसाधिपति कैसा व्यक्ति होना चाहिए इस विषय में व्यवस्था देते हुए शुक्रनीति में बतलाया गया है जिस प्रकार प्रजा नष्ट न होने पाए उस प्रकार कोमल दण्ड देनेवाले व्यक्ति को दण्डविधायक के पद पर नियुक्त करना चाहिए और उसको न तो अधिक क्रूर और न अधिक कोमल हृदय ही का होना चाहिए।[2] इसी प्रकार लुटेरों, चोर, और राज्य के कर्मचारियों से माता-पिता की भांति जो व्यक्ति प्रजा की रक्षा करने में समर्थ हो ऐसा व्यक्ति ग्रामप (ग्रामनेता) होना चाहिए।[3] तीसरा अधिकारी भागहार बतलाया गया है। यह अधिकारी भूमिकर सञ्चय करने के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए। उसका कर्त्तव्य ग्रामवासियों से भूमिकरसञ्चय करना और इस प्रकार सञ्चित धन को राजकोष में भेजना बतलाया गया है।[4] लेखक का कर्तव्य शासन सम्बन्धी निर्णीत विषयों को लेखबद्ध करना, और ग्राम सम्बन्धी समस्त आय-व्यय आदि को अंकित करना था। शुक्रनीति में लेखक के विषय में ऐसा वर्णन मिलता है कि गणना में चतुर, देशभाषाओं का जाननेवाला और स्वच्छ एवं स्पष्ट लिखने में समर्थ व्यक्ति को लेखक बनाना चाहिए।[5] इस वर्णन से विदित होता है कि लेखक को ग्राम के शासन सम्बन्धी समस्त विषयों को लेखवद्ध करना और ग्राम के आय-व्यय के विवरण रखने पड़ते थे। शुल्कग्राहक नाम के अधिकारी को शुल्क-सञ्चयकर्त्ता बतलाया गया है। उसका कर्तव्य व्यापारियों से शुल्क-सञ्चय करना माना गया है। इस अधिकारी का कर्तव्य बतलाते हुए शुक्रनीति में ऐसा वर्णन मिलता है जिस प्रकार व्यापारियों के मूलधन का नाश न हो उसी प्रकार शुल्कसञ्चय करने में समर्थ

१—साहसाधिपतिं चैव ग्रामनेतारमेव च।
भागहारं तृतीयं तु लेखकं च चतुर्थकम्॥ श्लोक १२० अ० २ शुक्रनीति॥
शुल्कग्राहं पञ्चमं च प्रतिहारं तथैव च।
षट्कमेतन्नियोक्तव्यं ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे॥ श्लोक १२१ अ० २ शुक्रनीति॥

२—प्रजा नष्टानहि भवेत्तथा दण्डविधायकः।
नाति क्रूरोनाति मृदुः साहसाधिपतिश्च सः॥श्लोक १६९–७० अ०२ शुक्रनीति॥

३—आधर्षकेभ्यश्चोरेभ्यो ह्याधिकारिगणात्तथा।
प्रजा संरक्षणेदक्षो ग्रामपो मातृपितृवत्॥ श्लोक १७०–७१ अ० २ शुक्रनीति॥

४—वृक्षान्संपुष्ययत्नेन फल पुष्पं विचिन्विति।
मालाकार इवात्यन्तं भागहारस्तथा विधः। श्लोक १७१–१७२ अ० २ शुक्रनीति॥

५—गणनाकुशलोयस्तु देशभाषाप्रभेदवित्।
असंदिग्धमगूढार्थं विलिखेत्स च लेखकः॥श्लोक १७२–७३ अ० २ शुक्रनीति।

व्यक्ति को शौल्किक अथवा शुल्कग्राहक नियुक्त करना चाहिए।[1] प्रतिहार किस प्रकार का व्यक्ति होना चाहिए इस विषय में भी शुक्रनीति में ऐसी व्यवस्था दी गयी है— जो व्यक्ति शस्त्र और अस्त्र के प्रयोग में कुशल हो, दृढ़ अंगवाला हो, आलस्य रहित और उचित प्रकार से लोगों को नम्रतापूर्वक बुला लाने की योग्यता रखता हो उसको प्रतिहार बनाना चाहिए।[2] यह कथन इस बात को सिद्ध करता है कि प्रतिहार का मुख्य कर्तव्य ग्रामवासियों को ग्राम के अन्य अधिकारियों के समक्ष आवश्यकतानुसार उचित विधि से बुला लाना बतलाया गया है। इस प्रकार शुक्रनीति में ग्राम के अधिकारियों का वर्णन दिया गया है।

भीष्म ग्राम के ऊपर दस ग्रामों के संघठित करने का आदेश देते हैं। इन दस ग्रामों में सामूहिक सुव्यवस्था एवं शान्ति और सुरक्षा का भार इन्हीं दस ग्रामों के समूह के एक अधिपति को सौंपने की व्यवस्था दी गयी है। इस अधिपति की नियुक्ति राजा की ओर से होनी चाचिए। यह अधिपति भी राज-कर्मचारी ही होगा। इस राज कर्मचारी को भीष्म ने दशप नाम से सम्बोधित किया है। भीष्म यह आदेश देते हैं कि कि इस राजकर्मचारी के अधीन दस ग्रामों के (पृथक्-पृथक प्रत्येक ग्राम के अधिपति) दस अधिपति जिनको ग्रामिक नाम से सम्बोधित किया गया है होने चाहिए।[3] ग्राम सम्बन्धी विशेष परिस्थिति एवं अवस्था आदि विषय की सूचना ग्रामिक द्वारा दशप अधिकारी को देनी चाहिए।[4] दशप के अधीन दस ग्रामों में जो अलग अलग प्रत्येक ग्राम में राजस्व के रूप में ग्रामिक भोग की सामाग्री अपने ग्राम की प्रजा से सञ्चय करता था उसमें से कुछ अंश इस अधिकारी (दशप) को भी भृति के रूप में मिलना चाहिए ऐसी व्यवस्था भीष्म ने दी है।[5] इसके उपरान्त बीस–बीस ग्रामों के संघठन बनाए जाने चाहिए, फिर सौ-सौ ग्रामों के और फिर सहस्र ग्राम के इन संघठित ग्राम–समूहों के अधिकारी गण क्रमशः विंशतिप, शतपाल और सहस्रपाल अथवा सहस्रपति होने चाहिए। इनका भी अपने अपने ऊपर के अधिकारी के प्रति व्यवहार एवं कर्तव्य लगभग वैसा ही भीष्म ने बतलाया है जैसा कि ग्रामिक का कर्तव्य एवं व्यवहार अपने ऊपर के अधिकारी दशप के

१—यथा विक्रयिणां मूलधन नाशो भवेन्नहि।
तथा शुल्कं तु हरति शौल्किकः सउदाहृतः ।।श्लोक १७४–७५ अ० २ शुक्रनीति।।

२—शस्त्रास्त्र कुशलो यस्तु दृढ़ांगश्च निरालसः ।। श्लोक १७३ अ० २ शुक्रनीति ।।
यथायोग्यं समाहूयात्प्रनम्रः प्रतिहारकः ।। श्लोक १७४ अ० २ शुक्रनीति ।।

३—ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्राम्यास्तथापरः ।। श्लोक ३ अ० ८७ शा० पर्व ।।

४—ग्रामेयान्ग्रामदोषांश्च ग्रामिकः प्रतिभावयेत्।
तान् ब्रूयाद्दशपायाऽसौ स तु विंशतिपाय वै ।। श्लोक ४ अ० ८७ शा० पर्व ।।

५—यानि ग्राम्याणि भोज्यनि ग्रामिकस्तान्युपश्नियात्।
दशपस्तेन भर्तव्यस्तेनापि द्विगुणाधिपः ।। श्लोक ६ अ० ८७ शा० पर्व ।।

प्रति बतलाया गया है। इस प्रकार राष्ट्र के समस्त ग्राम एवं उनके अधिकारी एक सूत्र में गुथे होने चाहिए। अन्त में यह समस्त अधिकारी उसी क्रम से राजा के एक धर्मज्ञ सचिव के अधीन होने चाहिए, भीष्म का ऐसा मत है।[1]

मानवधर्मशास्त्र में भीष्म के उपर्युक्त मत की पुष्टि इस प्रकार की गयी है— ग्रामिक को अपने अधीन ग्राम में उत्पन्न हुए दोषों को स्वयं जानकर दस ग्रामों के अधिपति को उसकी सूचना देनी चाहिए। इसी प्रकार दस ग्राम का अधिपति बीस ग्रामों के अधिपति को और बीस ग्रामों का अधिपति सौ ग्रामों के अधिपति को एवं सौ ग्रामों का अधिपति सहस्र ग्रामों के अधिपति को उस विषय से सूचित करना चाहिए।[2] इन अधिकारियों के ग्राम सम्बन्धी तथा अन्य कार्यों को राजा के एक कोमल हृदयवाले सचिव को आलस्य त्याग कर देखना चाहिए।[3] इस प्रकार मनु भी इन अधिकारियों की एक शृंखला के निर्माण की व्यवस्था देते हैं।

ग्रामों के अतिरिक्त राज्य में राजधानी को छोड़कर अन्य नगर भी होते थे। परन्तु इन नगरों की संख्या अल्प होती थी। भीष्म इन नगरों में प्रत्येक नगर में सर्वार्थचिन्तक नाम के एक अधिकारी की नियुक्ति का आदेश देते हैं। जैसा कि शब्द सर्वार्थचिन्तक से स्वयं स्पष्ट प्रकट होता है इस अधिकारी का कर्त्तव्य नगर की समस्त जनता के अर्थ की सिद्धि होगा।[4] उसको समस्त सभासदों के ऊपर परिक्रमा करते हुए उनके मध्य में इस प्रकार रहना चाहिए जैसे नक्षत्रों के मध्य एक ग्रह घोर रूप धारण कर शासन करता है।[5] इस सर्वार्थचिन्तक को अपने अधीन नगर की समस्त जनता के कार्यों को देखना चाहिए। उसके गुप्तचर होने चाहिए जिनके द्वारा वह जनता के विषय में सब कुछ जानने में समर्थ हो सके। यह सर्वार्थचिन्तक अपने नगर के पापी, हिंसक, परधन हरनेवाले, शठ आदि से रक्षाधिकृत नामक राजकर्मचारियों के द्वारा प्रजा समूह की रक्षा करते रहें। उसको उत्पत्ति, दान, वृत्ति, तथा

१—धर्मज्ञः सचिवः कश्चित्तत्तत्पश्येदतन्द्रितः ॥ श्लोक १० अ० ८७ शा० पर्व ॥

२—ग्रामदोषान्समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिनम्॥ श्लोक ११६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत्।
शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम्॥ श्लोक ११७ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

३—राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः॥ श्लोक १२० अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

४—नगरे नगरे वा स्यादेकः सर्वार्थचिन्तकः॥ श्लोक १० अ० ८७ शान्ति पर्व॥

५—उच्चैः स्थाने घोररूपो नक्षत्राणामिवग्रहः।
भवेत्स तान्परिक्रामेत्सर्वानेव सभासदः॥ श्लोक ११ अ० ८७ शा० पर्व॥

शिल्पकार्यों को देखकर शिल्प कार्य या शिल्पियों पर कर निश्चित करना चाहिए ।[१] इस प्रकार भीष्म नगर के सबसे बड़े अधिकारी को सर्वार्थचिन्तक नाम से सम्बोधित करते हैं। इसके साथ-साथ वह यह भी बतलाते हैं कि सर्वार्थचिन्तक नामक अधिकारी के अधीन अन्य राजकर्मचारी भी रहते थे। इन राजकर्मचारियों के क्या अधिकार एवं कर्त्तव्य थे इस विषय पर भीष्म ने समुचित प्रकाश नहीं डाला है। इससे इन अधिकारियों के पदों से सम्बन्धित कर्त्तव्यों के विषय में कुछ भी लिखा नहीं जा सकता।

मानवधर्मशास्त्र में भी सर्वार्थचिन्तक नाम के अधिकारी की नियुक्ति और उसके कर्त्तव्यों का बोध कराया गया है। सर्वार्थचिन्तक नाम के इस अधिकारी का पद एवं उसके अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का जैसा वर्णन मानवधर्मशास्त्र में प्राप्त है वह भीष्म द्वारा वर्णित तत्सम्बन्धी अधिकारी एवं उसके पद तथा अधिकारों और कर्त्तव्यों से बहुत कुछ समानता रखता है। सर्वार्थचिन्तक नामक अधिकारी के पद एवं उसके अधिकारों और कर्त्तव्यों का वर्णन देते हुए मानवधर्मशास्त्र में मनु इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—राष्ट्र के प्रत्येक नगर में राजा की ओर से सर्वार्थचिन्तक नाम के एक अधिकारी की नियुक्ति होनी चाहिए। वह नगर के अन्य राजकर्मचारियों के मध्य तेजयुक्त होकर इस प्रकार विराजमान रहे जैसे नक्षत्रों के मध्य ग्रह रहता है। उस सर्वार्थचिन्तक नाम के अधिकारी को अपने अधीन कर्मचारियों के ऊपर दौरा करना चाहिए और राष्ट्र में प्रजा के प्रति उनके व्यवहारों का पता एवं प्रजा के क्लेशों का समाचार गुप्तचरों के द्वारा लेते रहना चाहिए।[२] क्योंकि रक्षा के निमित्त नियुक्त किए गए राजकर्मचारी प्रायः दूसरों के द्रव्य के हरण करनेवाले और वञ्चक होते हैं, राजा को इनसे प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। जो पापबुद्धि कार्य-अर्थियों से द्रव्य ही ग्रहण करते हैं राजा को ऐसे कर्मचारियों का सर्वस्व हरण कर उनको देश के बाहर निकाल देना चाहिए।[३]

१—तेषां वृत्तिं परिणयेत्कश्चिद्राष्ट्रेषु तच्चरः ।
जिघांसवः पापकामाः परस्वादायिनः शठाः ॥ श्लोक १२ अ० ८७ शा० पर्व ॥
रक्षाऽभ्यधिकृता नाम तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ।
विक्रयंक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिच्छदम् ॥ श्लोक १३ अ० ८७ शा० पर्व ॥
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजां कारयेत्करान् ।
उत्पत्तिं दानवृत्तिं च शिल्पं संप्रेक्ष्य चासकृत् ॥ श्लोक १४ अ० ८७ शा० पर्व॥

२—नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम् ।
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥श्लोक १२१ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥
स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम् ।
तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥श्लोक १२२ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

३—राज्ञोहिरक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः ।
भृत्याभवन्तिप्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥श्लोक १२३ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥
ये कार्यिकेभ्योर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ।
तेषां सर्वस्वमादायराजाकुर्यात्प्रवासनम् ॥श्लोक १२४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

इन राजकर्मचारियों के वेतन के विषय में भी भीष्म ने अपने विचार प्रकट किए हैं। वह राजा युधिष्ठिर को इस विषय में इस प्रकार व्यवस्था देते हैं— ग्राम के अधिपति (ग्रामिक) को उसके अधीन ग्राम में उत्पन्न हुई खाद्य सामग्री का भोग करना चाहिए, और ग्रामिक को दस ग्राम के अधिपति का भी भरण पोषण करने के लिए ग्राम की खाद्य-सामग्री को उस के भोग हेतु भेजना चाहिए । इसी प्रकार दस ग्राम के अधिपति को बीस ग्राम के अधिपति केलिए भरण-पोषण हेतु खाद्य सामग्री भेजनी चाहिए ।[1] परन्तु इस प्रसंग में इस विषय का स्पष्ट वर्णन दिया हुआ नहीं है कि ग्राम की आय के कितने अंश का भोग ग्रामिक को, कितने अंश का दशग्रामाधिपति को और कितने अंश का बीसग्रामाधिपति को भोग करने के लिए दिया जाना चाहिए । इसलिए इस विषय पर अधिक प्रकाश डाला नहीं जा सकता । परन्तु मानवधर्मशास्त्र में इस विषय में शान्ति पर्व की अपेक्षा अधिक स्पष्ट वर्णन प्राप्त है जिसमें ऐसा बतलाया गया है कि दसग्रामाधिपति को एक कुल का भोग ग्रहण करना चाहिए और बीसग्रामाधिपति को पांच कुल का भोग करना चाहिए ।[2] परन्तु मानवधर्मशास्त्र में ग्रामिक के वेतन का बोध नहीं कराया गया । सम्भव है उसको एक हल की आय के भोग का अधिकार रहा होगा ।

मानवधर्मशास्त्र के इस वर्णन से विदित होता है कि भीष्म भी लगभग इसी परम्परा में विश्वास रखते होंगे और राज्य की ओर से ग्राम की उपज का एक निर्धारित अंश ग्रामिक, दशप, विंशप अधिकारी को भृति के रूप में मिलते होंगे । सौ ग्राम के अधिकारी और सहस्र ग्राम के अधिकारियों की भृति के विषय में भीष्म यह आदेश देते हैं—सौ ग्राम के अधिपति को एक बड़े ग्राम की आय के भोग का अधिकार मिलना चाहिए और इसी प्रकार सहस्र ग्राम के अधिपति को शाखानगर के अन्न, सुवर्ण आदि के भोगने का अधिकारी बतलाया गया है ।[3] इस प्रसंग में सर्वार्थचिन्तक नाम के अधिकारी की भृति के विषय में भीष्म और मनु दोनों मौन हैं ।

इस प्रकार भीष्म ने राष्ट्र में शासन व्यवस्था स्थापित करने के लिए एक प्रकार के संघठन के निर्माण किए जाने के लिए राजा युधिष्ठिर को आदेश दिया है ।

पुर—प्राचीन भारत में राज्य की राजधानी जिस नगर में होती थी उस नगर को पुर नाम से सम्बोधित किया जाता था । उस युग के कतिपय आचार्यों ने पुर और दुर्ग को समान अर्थ वाची भी माना है। परन्तु भीष्म ऐसा नहीं मानते ।

१—यानि ग्राम्याणि भोज्यानि ग्रामिकस्तान्युपाश्नियात् ।
दशपस्तेन भर्तव्यस्तेनापि द्विगुणाधिपः ।। श्लोक ६ अ० ८७ शा० पर्व ।।

२—दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्चकुलानि च ।।श्लोक ११६ अ० ७ मानवशास्त्र।।

३—ग्रामं ग्रामशताध्यक्षो भोक्तुमर्हति सत्कृतः ।
महान्तं भरतश्रेष्ठ सुस्फीतं जनसंकुलम् ।। श्लोक ७ अ० ८७ शान्ति पर्व ।।
शाखानगरमर्हस्तु सहस्रपतिरुत्तमः ।। श्लोक ८ अ० ८७ शान्ति पर्व ।।

उनके मतानुसार दुर्ग पुर में होना आवश्यक तो है परन्तु दुर्ग ही पुर नहीं हो सकता। दुर्ग पुर का एक अंश मात्र है।[1] पुर की स्थिति किस प्रकार के विशेष स्थान में होनी चाहिए इस विषय में भीष्म ने विशेष परिचय देने का प्रयास नहीं किया है। अतः इस विषय का सम्यक प्रकार से परिचय नहीं दिया जा सकता।

भीष्म ने पुर की रक्षा पर विशेष ध्यान दिया है। अतः वह राजा युधिष्ठिर को यह आदेश देते हैं--पुर के चारों ओर गहरी खन्दक (परिखा) होनी चाहिए और फिर भीतर की ओर पुर ऊँची दीवार (प्राकार) से चारों ओर से घिरा होना चाहिए जिससे शत्रु सुगमता से पुर में प्रवेश न कर सके। इस पुर में दुर्ग होना चाहिए।[2] पुर में दुर्ग किस प्रकार का होना चाहिए इस विषय में भीष्म छः प्रकार के दुर्गों का उल्लेख करते हैं। यह छः प्रकार के दुर्ग धन्व (मरु भूमि युक्त) दुर्ग, मही दुर्ग, गिरि दुर्ग, मनुष्य दुर्ग, मृत्तिका दुर्ग, और वन दुर्ग भीष्म ने बतलाए हैं।[3] देशकाल और स्थिति के अनुसार राजा को अपनी राजधानी में दुर्ग का निर्माण करना चाहिए।

पुर में राजा को किस प्रकार के लोगों को बसाना चाहिए इस विषय में भीष्म यह व्यवस्था देते हैं--धन-धान्य का भली विधि से सञ्चय करने वाले, विद्वान, शिल्पियों से अधिष्ठित एवं दक्ष, धर्मात्मा तथा बलवान मनुष्यों से युक्त पुर होना चाहिए।[4] आचार्य ऋत्विक, पुरोहित, महाधनुर्धारी योद्धा, कुशल कलाकार, ज्योतिषी और चिकित्सक इन सबका राजा को सत्कार करना चाहिए।[5] बुद्धिमान, मेधावी, धर्मात्मा, दक्ष, सूर, बहुश्रुत, कुलीन, पराक्रम-युक्त पुरुषों को सब कार्यों में नियुक्त करना चाहिए।[6] इस प्रकार भीष्म ने संक्षेप में बतलाया है कि पुर में आचारवान, विश्वसनीय योग्य विद्वान एवं विभिन्न विषयों के ज्ञाता तथा वीर पुरुषों को बसाना चाहिए।

राजा को पुर में किस प्रकार की सामग्री एवं राज्य-संचालन सम्बन्धी अन्य साधनों को संग्रहीत करना चाहिए इस विषय में भी भीष्म ने संक्षिप्त वर्णन दिया

१--यत्पुरं दुर्गसम्पन्नं + + + ।। श्लोक ६ अ० ८६ शान्ति पर्व ।।

२--यत्पुरं दुर्गसम्पन्नं धान्यायुध समन्वितम्।
दृढ़प्राकारपरिखं हस्त्यश्वरथसंकुलम् ।। श्लोक ६ अ० ८६ शान्ति पर्व ।।

३--धन्वदुर्गं महीदुर्गं गिरिदुर्गं तथैव च।
मनुष्यदुर्गं मृद्दुर्गं वनदुर्गं च तानि षट् ।। श्लोक ५ अ० ८६ शान्ति पर्व ।।

४--विद्वांसः शिल्पिनो यत्र निचयाश्च सुसंचिताः।
धार्मिकश्च जनो यत्र दाक्ष्य उत्तममास्थितः ।। श्लोक ७ अ० ८६ शान्ति पर्व ।।

५--सत्कृताश्च प्रयत्नेन आचार्यत्विक् पुरोहिताः।
महेष्वासाः स्थपतयः सांवत्सरचिकित्सकाः ।। श्लोक १६ अ० ८६ शा० पर्व ।।

६--प्रांज्ञा मेधाविनो दान्ता दक्षाः शूरा बहुश्रुताः।
कुलीनाः सत्वसंपन्ना युक्ताः सर्वेषु कर्मसु ।। श्लोक १७ अ० ८६ शा० पर्व ।।

है जो इस प्रकार है--राजा को इस पुर में रहते हुए कोष, बल, मित्र और व्यवहार (न्यायव्यवस्था) की सदैव वृद्धि करनी चाहिए।[1] राजा को भण्डार, अस्त्रालय, धान्य आदि का संग्रह और मंत्र तथा आयुधागारों को पुर में यत्न पूर्वक बढ़ाना चाहिए।[2] लोहा, तूष, अंगार, देवदारु, काष्ठ, सींग, हड्डी, बांस, मज्जा, स्नेह, चर्बी, मधु, अनेक भांति के औषध, शण, सर्जरस (धूप), धान्य, अस्त्र, बाण, चर्म, स्नायु, बेंत, मूंज, बल्वजबन्धन, कुएँ के समीप जलाधार, उदपान, अनेक तालाब और दूधवाले वृक्ष इन सब सामग्रियों की रक्षा राजा को निज पुर में नित्य करनी चाहिए।[3] पुर धान्य और अस्त्रों से परिपूरित, हाथी-घोड़ों तथा रथ-समूह से युक्त, सुन्दर प्रकाश युक्त गीत-वाद्य की ध्वनि से परिपूरित विशाल भवनों से युक्त, वेदध्वनि से अनुनादित, समाज और उत्सव से युक्त, और सदैव पूजित देवताओं से अधिष्ठित होना चाहिए।[4] इस नगर में चौराहे और सुन्दर दुकानों से सुशोभित बाजारें होनी चाहिए।[5]

इस प्रकार पुर में पुर की रक्षा एवं उसके निवासियों के भरण-पोषण की समस्त सामग्री प्रचुर मात्रा में होनी चाहिए जिससे समय पड़ने पर पुर स्वावलम्बी बन सके। और अपनी रक्षा स्वयं करने में समर्थ हो सके। पुर में न्यायव्यवस्था की समुचित स्थापना की जानी चाहिए जिससे प्रजा में असन्तोष उत्पन्न न होने पाए।

भीष्म ने पुर के वर्णन करते समय पुर के शासन सम्बन्धी अधिकारियों एवं कर्मचारियों का कहीं भी स्पष्ट वर्णन नहीं दिया है। अतः इस विषय में इससे अधिक प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। ऐसा विदित होता है कि पुर का शासन प्रबन्ध केन्द्रीय अधिकारी वर्ग के अधीन था। इसीलिए भीष्म को इस ओर अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।

१—तत्र कोशं बलं मित्रं व्यवहारं च वर्धयेत् ।। श्लोक ११ अ० ८६ शा० पर्व ।।

२—भाण्डागारायुधागारं प्रयत्नेनाभिवर्धयेत् ।
निचयान्वर्धयेत्सर्वांस्तथा यंत्रायुधालयान् ।। श्लोक १२ अ० ८६ शा० पर्व ।।

३—काष्ठलोहतुषाङ्गारदारुशृङ्गास्थिवैणवान् ।
मज्जास्नेहवसाक्षौद्रमौषधग्राममेव च ।। श्लोक १३ अ० ८६ शा० पर्व ।।
शणं सर्जरसं धान्यमायुधानि शरांस्तथा ।
चर्म स्नायुं तथा वेत्रं मुञ्जबल्वजदन्धनान् ।। श्लोक १४ अ० ८६ शा० पर्व ।।
आशयाश्चोदपानाश्च प्रभूतसलिलाकराः ।
निरोद्धव्याः सदा राज्ञा क्षीरिणश्च महीरुहाः ।। श्लोक १५ अ० ८६ शा० पर्व।।

४—यत्पुरं दुर्ग सम्पन्नं धान्यायुध समन्वितम् ।
दृढ़ प्रांकारपरिखंहस्त्यश्वरथ संकुलम् ।। श्लोक ६ अ० ८६ शा० पर्व ।।
सुप्रभं सानुनादं च सुप्रशस्त निवेशतम् ।
शूराढ्यजनसंम्पन्नं ब्रह्मघोषानुनादितम् ।। श्लोक ६ अ० ८६ शा० पर्व ।।
समाजोत्सवसंपन्नं सदा पूजितदैवतम् ।
वश्याऽमात्यबलो राजा तत्पुरं स्वयमाविशेत् ।। श्लोक १० अ० ८६ शा० पर्व ।।

५—चत्वरापण शोभितम् ।। श्लोक ८ अ० ८६ शा० पर्व ।।

सप्तम अध्याय

गण और संघ राज्य

भीष्म नृपतंत्रात्मक राज्यों में विशेष आस्था रखते थे। इसीलिए उन्होंने नृपतंत्रात्मक राज्यों का विशेष प्रकार से वर्णन किया है। परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि वह लोकतंत्रात्मक राज्यों से अपरिचित थे। महाभारत के शान्ति पर्व में जहां उन्होंने नृपतंत्रात्मक राज्यों का विशेष वर्णन किया ह वहीं उन्होंने गण एवं संघ राज्यों का भी संक्षेप में वर्णन दिया है। यह संक्षिप्त वर्णन शान्ति पर्व में आए हुए एक विशेष प्रसंग में उपलब्ध है। परन्तु यह प्रसंग भी इस विषय में केवल संकेत रूप में ही वर्णन देता हैं। इस लिए इस विषय का बोध कराने के निमित्त कि गण एवं संघ राज्यो के विषय में भीष्म की क्या धारणा थी इन्ही सीमित संकेतों का आश्रय लेना होगा। महाभारत के शान्ति पर्व में ऐसी प्रामाणिक सामग्री का सर्वथा अभाव है जिसके आधार पर निश्चय पूर्वक यह कहा जा सके कि जिन गण एवं संघ राज्यों से भीष्म परिचित थे उनका वास्तविक स्वरूप क्या था अथवा उनके समय में कौन-कौन से गण एवं संघ राज्य थे। परन्तु गण एवं संघ राज्यों का जो वर्णन भीष्म ने शान्ति पर्व में दिया है उसके अध्ययन करने से यह निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि भीष्म को गण एवं संघ राज्यों के संघठन एवं संचालन के विषय में अच्छा ज्ञान था। गण एवं संघ राज्यों का शान्ति पर्व म इस विषय में जैसा वर्णन भीष्म ने दिया है उसके आधार पर उनकी रूप-रेखा का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाएगा।

गण राज्य---भीष्म गण राज्य से भली भांति परिचित थे। गण राज्यों की शासन प्रणाली का उन्हें अच्छा ज्ञान था। महाभारत के शान्ति पर्व में राजा युधिष्ठिर द्वारा पूछे जाने पर गण राज्यों की वृद्धि एवं उनके पतन के विषय में जो उन्होंने अपना मत प्रकट किया है वह इस बात को सिद्ध करता है कि गण राज्यों की शासन प्रणाली का उन्हें अच्छा ज्ञान था। राजा युधिष्ठिर ने भीष्म से गण राज्यों के विषय में पूछते हुए उनकी वृद्धि और पतन के कारण पूछे हैं।[1] गण राज्यों की वृद्धि एवं उनके पतन के कारणों का उल्लेख करते हुए भीष्म राजा युधिष्ठिर के समक्ष इस प्रकार अपना मत प्रकट करते हैं---जिन गणों में धर्मशास्त्रों के अनुसार

१---गणानां वृत्तिमिच्छामि श्रोतुंमति मतांवर ॥ श्लोक ६ अ० १०७ शा० पर्व ॥
यथा गणा: प्रवर्धन्ते न भिद्यन्ते च भारत।
अरींश्च विजिगीषन्ते सुहृदः प्राप्नुवन्ति च ॥ श्लोक ७ अ० १०७ शा० पर्व ॥

न्याय-व्यवस्था की स्थापना होती है और उस व्यवस्था को मान्यता दी जाती है वह गण वृद्धि को प्राप्त होते हैं।[1] जिन गणों में लोग अपने पुत्र तथा भ्राताओं आदि को विनयशील बनाकर उनका नियंत्रण करते रहते हैं और अपराध के अनुसार उन्हें दण्ड देते रहते है वह गण वृद्धि को प्राप्त होते हैं क्योंकि विनयशील जनता से ही गणों की वृद्धि होती है।[2] गुप्तचरों की नियुक्ति की उचित व्यवस्था करने, उत्तम मंत्रसम्वरण करने एवं कोष-सञ्चय में जो गण रत रहते हैं उन गणों की प्रत्येक प्रकार से वृद्धि होती है।[3] बुद्धिमान, बलवान, महान उत्साही, कार्य-परायण तथा पुरुषार्थी पुरुषो का जिन गणो में सम्मान होता है वह गण उन्नति को प्राप्त होते हैं।[4] क्रोध, भेद, भय, दण्ड, कर्षण, निग्रह और वध यह सब, गणों को शत्रु के वश में शीघ्र किया करते है।[5] इसलिए गण के मुखियों (Leaders of the ganas) का विशेष सत्कार होना चाहिए क्योंकि गण-संचालन का प्रमुख भार उन्हीं पर होता है।[6] गणों में कुल वृद्धों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि उनकी उपेक्षा होने से कुल में कलह उत्पन्न हो जाती है और जिससे गणों में भेद उत्पन्न होता हैं जो गोत्र का नाश करता है।[7] गण के मुखियों को पारस्परिक मंत्रणा कर गण का हित-चिन्तन करना चाहिए। परन्तुउनके विमुख हो जाने से इस के विपरीत होता है।[8] गणों में मंत्र को गुप्त रखना बड़ी गहन समस्या होती है। अतः गुप्तचर विभाग और मंत्र गण के प्रधानों के अधीन होने चाहिए। गण के सभी लोगों को मंत्रणा

१—धर्मनिष्ठान्व्यवहारांश्च स्थापयन्तश्च शास्त्रतः।
यथावत्प्रतिपश्यन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः।। श्लोक १७ अ० १०७ शा० पर्व।।

२—पुत्रान्भ्रातॄन्निगृह्णन्तो विनयन्तश्च तान्सदा।
विनीतांश्च प्रगृह्णन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः।। श्लोक १८ अ० १०७ शा० पर्व।।

३—चारमंत्रविधानेषु कोषसन्निचयेषु च।
नित्ययुक्ता महाबाहो वर्धन्ते सर्वतो गणाः।। श्लोक १९ अ० १०७ शा० पर्व।।

४—प्राज्ञान्शूरान्महोत्साहान्कर्मसु स्थिरपौरुषान्।
मानयन्तः सदा युक्ता विवर्धन्ते गणा नृप।। श्लोक २० अ० १०७ शा० पर्व।।

५—क्रोधो भेदो भयं दण्डः कर्षणं निग्रहो वधः।
नयत्यरिवशं सद्यो गणान्भरतसत्तम।। श्लोक २२ अ० १०७ शा० पर्व।।

६—तस्मान्मानयितव्यास्ते गणमुख्याः प्रधानतः।
लोकयात्रा समायत्ता भूयसी तेषु पार्थिव।। श्लोक २३ अ० १०७ शा० पर्व।।

७—कुलेषु कलहा जाताः कुलवृद्धैरुपेक्षिताः।। श्भोक २७ अ० १०७ शा० पर्व।।
गोत्रस्य नाशं कुर्वन्ति गणभेदस्य कारकम्।। श्लोक २८ अ० १०७ शा० पर्व।।

८—गणमुख्यैस्तु संभूय कार्यं गणहितं मिथः।
पृथग्गणस्य भिन्नस्य विततस्य ततोऽन्यथा।। श्लोक २५ अ० १०७ शा० पर्व।।

सुनने का अधिकारी नहीं होना चाहिए।[१] भीष्म का मत है कि गणों के लिए बाह्य भय इतने घातक नहीं होते जितने कि आन्तरिक भय उनके घातक होते हैं। इस लिए आन्तरिक भय से गणों की विशेष प्रकार से रक्षा होनी चाहिए।[२] आन्तरिक भय अकस्मात क्रोध, मोह, और स्वभाविक लोभ मुख्य हैं जिनके वश में होकर गणों में लोग पारस्परिक वार्तालाप करना बन्द कर देते हैं और इस प्रकार उनके हृदयो में उत्पन्न मनोमालिन्य गणों के पराभव का कारण बनजाता हैं।[३] इस प्रकार आन्तरिक भय गणो के मूलोच्छेद के कारण होते हैं क्योंकि गणों में जाति और कुल की दृष्टि से सब अपने को समान समझते हैं।[४] उद्योग, बुद्धि, सौन्दर्य या द्रव्य के द्वारा शत्रु गणों में भेद उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते। परन्तु भेद और लोभ-वृत्ति के द्वारा गणों का पतन सुगम माना गया है।[५] इसलिए भेद को त्याग कर गणों के संघीभूत होने में ही पण्डित लोगों ने उनका कल्याण माना है।[६]

गण सम्बन्धी उपर्युक्त वर्णन के, जो भीष्म ने दिया हैं, गम्भीरता पूर्वक अध्ययन करने से कई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निकलते हैं; इनमें सर्व प्रथम यह बात विचारणीय है कि इस वर्णन में भीष्म ने कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिनका सम्बन्ध गणों से विशेषरूप में बतलाया गया है और जो राजनीति-क्षेत्र में बड़े महत्त्व के हैं। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र--प्रणेता राज्य के लिए साधन--चतुष्टय नामक नीति निर्धारित करते हैं जो साम, दान, भेद, और दण्ड के नाम से प्रसिद्ध है। गणों के उपर्युक्त वर्णन में भी इन्हीं साधनों के प्रयोग में लाने पर विशेष महत्त्व दिया गया है।[७] भीष्म गणों के लिए उत्तम गुप्तचरों की व्यवस्था निर्धारित करते हैं। आगे चलकर वह कोष-सञ्चय गणों के लिए अत्यन्त आवश्यक बतलाते हैं।[८] गणों की सफलता के लिए

१--मंत्रगुप्तिः प्रधानेषु चारश्चामित्रकर्षण।
न गणाः कृत्स्नशो मंत्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत ।। श्लोक २४ अ० १०७ शा० पर्व ।।

२--आभ्यन्तरं भयं रक्ष्यमसारं बाह्यतो भयम् ।। श्लोक २८ अ० १०७ शा० पर्व ।।

३--आभ्यन्तरं भयं राजन्सद्यो मूलानि कृन्तति।
अकस्मात्क्रोधमोहाभ्यां लोभाद्वापि स्वभावजात् ।।श्लोक २९ अ० १०७ शा० पर्व।।
अन्योन्यं नाभिभाषन्ते तत्पराभवलक्षणम् ।। श्लोक ३० अ० १०७ शा० पर्व ।।

४--जात्या च सदृशा सर्वे: कुलेन सदृशास्तथा ।। श्लोक ३० अ० १०७ शा० पर्व ।।

५--न चोद्योगेन बुद्ध्या वा रूपद्रव्येण वा पुनः।
भेदाश्चैव प्रादानाच्च भिद्यन्तेरिपुभिर्गणाः ।। श्लोक ३१ अ० १०७ शा० पर्व ।।

६--तस्मात्संघातमेवाहुर्गणानां शरणं महत् ।। श्लोक ३२ अ० १०७ शा० पर्व ।।

७--सामदानविभेदनैः ।। श्लोक १२ अ० १०७ शा० पर्व ।।

८--चारमंत्रविधानेषु कोशसंनिचयेषु च।
नित्ययुक्ता महाबाहो वर्धन्ते सर्वतोगणाः ।। श्लोक १९ अ० १०७ शा० पर्व ।।

इन आवश्यक विषयों के अतिरिक्त मंत्र का गुप्त रखना आवश्यक बतलाया गया है।[1] इसके अतिरिक्त धर्मशास्त्रों के अनुसार न्याय-व्ययवस्था की गणों में विधिवत स्थापना होनी चाहिए ।[2]

उपर्युक्त राजनीतिक व्यवस्थाएं जो गणों से घनिष्ठता रखती हैं और जिनकी उत्तमता गणों की उत्तमता बतलायी गयी हैं गणों के राजनीतिक संस्थाएं होने को निस्संदेह सिद्ध करती हैं । इस लिए गणों को राज्यों की कोटि में ही परिगणित करना उचित होगा ।

गणों का जो चित्र भीष्म के द्वारा खींचा गया है उसमें गणों का प्रत्येक निवासी जाति अथवा कुल की दृष्टि से समान माना गया है । यह लोग क्रोध, मोह अथवा लोभ के कारण एक दूसरे से द्वेष करने लगते हैं और पारस्परिक बात-चीत करना स्थगित कर देते हैं जिससे गण की जनता में भेद उत्पन्न हो जाता है और जो गणों के नाश का प्रमुख कारण बन जाता है ।[3] इस वर्णन के आधार पर इस सिद्धान्त की स्थापना होती है कि गण ऐसी राजनीतिक संस्था रहीं होंगी जिनके अधीन रहनेवाले लोगों को गणों की ओर से समान अधिकार प्राप्त थे । प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के समान ही अपने को समझने में अपना गौरव मानता था । इस दृष्टि से गण एक ऐसा राज्य माना जाएगा जहाँ प्रत्येक नागरिक वैध रूप से राज्य में समान अधिकार भोगने का अधिकारी होगा । इस प्रकार का राज्य गणराज्य (Republic) ही माना जा सकता है ।

इस विषय में तीसरी बात यह है कि समान रूप से अधिकार भोगने की भावना जब किसी राज्य की जनता में होती है तो ऐसी दशा में जनता को अनुशासन में रखने के लिए कठोर नियंत्रण का आश्रय लेना पड़ता है अन्यथा राज्य में अशान्ति फैलने की आशंका हो जाती है । भीष्म ने इसलिए यह व्यवस्था दी है कि गणों की जनता को अपने पुत्रों एवं भ्रताओं आदि को नियंत्रण में रखना चाहिए। यदि वह किसी प्रकार का अपराध करें तो उनको अपराध के अनुसार शीघ्र दण्ड विधान करना चाहिए ।[4] गणों से सम्बन्धित यह वर्णन भी गणराज्य (Republic) के एक विशेष लक्षण का ही द्योतक है ।

१—मंत्रगुप्तिः प्रधानेषु ।। श्लोक २४ अ० १०७ शा० पर्व ।।

२—धर्मिष्ठान्व्यवहारांश्च स्थापयन्तश्च शास्त्रतः ।।श्लोक १७ अ० १०७ शा० पर्व।।

३—आभ्यन्तरं भयं राजन्सद्यो मूलानि कृन्तति ।
अकस्मात्क्रोधमोहाभ्यां लोभाद्वापि स्वभावजात् ।।श्लोक २९ अ० १०७ शा० पर्व।।
अन्योन्यं नाभिभाषन्ते तत्पराभव लक्षणम् ।
जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा ।। श्लोक ३० अ० १०७ शा० पव ।।

४—पुत्रान्भ्रातॄन्निगृह्णन्तो विनयन्तश्च तान्सदा ।
विनीतांश्च प्रगृह्णन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ।। श्लोक १८ अ० १०७ शा० पर्व ।।

गणों की बड़ी कठिनायी यह बतलायी गयी है कि इनमें मंत्रगुप्त रहना सम्भव नहीं क्योंकि गण के सभी नागरिक मंत्रणा करने के समान अधिकारी होते हैं। यह वर्णन भी गणों के लोकतंत्री संस्था होने का बोधक है। इसी भय के कारण भीष्म यह व्यवस्था देते हैं कि मंत्र गणों के प्रधानों के आश्रित होना चाहिए।[1]

इस प्रकार जिन गणों की ओर भीष्म ने संकेत किया है वह गणतंत्रात्मक राज्य ही थे जिनमें राजसत्ता जनता में निहित थी और जिसको अपने राज्य के शासन सम्बन्धी समस्त छोटी अथवा बड़ी समस्याओं पर निर्णय देने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था।[2]

संघराज्य—भीष्म ने ऐसे राज्यों को संघराज्य माना है जिन का संघठन दो या दो से अधिक छोटे छोटे गण राज्यों के संघीभूत होने के सिद्धान्त के अधार पर होता था। उन्होंने ऐसे संघों का उल्लेख महाभारत के शान्ति पर्व के इक्यासीवें अध्याय में किया है।[3] इस प्रकार के राज्यों में अन्धक-वृष्णि संघराज्य का उल्लेख करते हुए इसके सफलता पूर्वक संचालित किए जाने एवं दृढ़ता पूर्वक स्थिर रहने के साधनों का बोध कराने के लिए वह संघराज्यों के विषय पर कृष्ण और नारद का सम्वाद देते हैं जिसके अध्ययन करने से संघराज्यों के विषय में भीष्म के जो विचार थे उनका किसी अंश तक बोध हो जाता है।

अन्धक-वृष्णि राज्य आधुनिक गुजरात प्रान्त में एक छोटा सा राज्य था जिसमें शासन-कार्य का संचालन दो क्षत्रिय जातियों के अधीन था। यह क्षत्रिय जातियां वृष्णि और अन्धक थी।[4] वृष्णियों के नेता कृष्ण और अन्धक वंशीय क्षत्रियों के नेता बभ्रु थे।[5] इन्ही दोनों नेताओं के अधीन इन दोनों जातियों के क्षत्रिय लोग अन्धक-वृष्णि संघराज्य के शासन प्रबन्ध का संचालन करते थे। यह क्षत्रिय लोग एक सभाभवन में एकत्र होकर शासन सम्बन्धी विषयों पर विचार करते थे और बहुमत से अपना निर्णय देते थे जिसके अनुसार राज्य में कार्य सम्पादित होता था। इस सभा का एक अध्यक्ष होता था जो राजा कहलाता था।[6] यह स्मरण रहना चाहिए कि नृपतंत्रात्मक राज्यों में उपराजा के स्थान में युवराज होता था परन्तु गण राज्यों में एक उपाध्यक्ष भी होता था जिसे उपराजा कहते थे। भीष्म एक स्थल पर

१—मंत्रगुप्तिः प्रधानेषु ॥ श्लोक २४ अ० १०७ शा० पर्व ॥

२—महाभारत कालीन गणों के विशेष ज्ञान के लिए लेखक की "रामायण महाभारत कालीत जनतंत्रवाद" नामक पुस्तक का आठवां अध्याय पढ़िए।

३—यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेदयं सङ्घस्तथा कुरु ॥ श्लोक २५ अ० ८१ शा० पर्व ॥

४—नित्योत्थानेन सम्पन्ना नारदान्धकवृष्णयः ॥ श्लोक ८ अ० ८१ शा० पर्व ॥

५—अर्धं भोक्ताऽस्मि भोगानां वाग्दुरुक्तानि च क्षमे ॥ श्लोक ५ अ० ८१ शा० पर्व ॥
वभ्रूग्रसेनयो राज्यं नाप्तुं शक्यं कथञ्चन ॥ श्लोक १७ अ० ८१ शा० पर्व ॥

६—तथैव राजा वृष्णी नामुग्रसेनः प्रतापवान् ॥ श्लोक ८ अ० २२१ आदि पर्व ॥
आहुकेन सुगुप्ता च राज्ञा राजीवलोचनः ॥ श्लोक २३ अ० १५ वन पर्व ॥

इस ओर संकेत करते हैं कि उपराजा बहुधा इस ओर उद्योगशील रहता था कि राजपद (अध्यक्ष पद) पा जाए।[1] राज्य की सैभा में शासन सम्बन्धी समस्याओं पर निरन्तर बाद-विताद होता था जिस में एक दल दूसरे दल को नीचा दिखाने का प्रयत्न किया करता था। प्रत्येक दल इस ओर प्रयत्नशील रहता था कि उसका नेता अध्यक्ष पद पाजाए। इस उद्देश्य के लिए अन्धक-वृष्णि संघ राज्य मै पारस्परिक प्रतिद्वन्द्वता इस सीमा तक पहुँच चुकी थी कि कृष्ण जैसे गम्भीर और नीतिकुशल नेता इस संघ के दोषों के निराकरण का उपाय नारद से पूछते हैं। इस पारस्परिक संघर्ष के कारण कृष्ण को जो आन्तरिक वेदना हो रही थी उसके विषय में नारद से वह इस प्रकार कहते हैं—हे देवर्षि जाति के लोगों के कठोर वचन मेरे हृदय को निरन्तर दग्ध किया करते हैं जैसे कि अरणी काष्ठ को अग्नि दग्ध करती हैं।[2] संकर्षण बल से, गद सुकुमारता से, प्रद्युम्न सौन्दर्य से मतवाले हुए हैं। इसलिए हे नारद मैं असहाय हूँ।[3] अन्य जो महाभाग, बलवान, उत्साहयुक्त, सदा उन्नतिशील पुरुष अन्धक-वृष्णि कुल में विद्यमान है,[4] वह लोग ऐसा समझते हैं कि वह जिस पक्ष के विरुद्ध होंगे वही पक्ष निर्बल होगा। आहुक और अक्रूर दोनों ने मुझे निवारण किया है, इससे मैं एक पक्ष को स्वीकार नहीं कर सकता।[5] हे महाबुद्धिमान! जुआरी पुरुष की माता की भांति मैं एक की जय और दूसरे की अपराजय की इच्छा करता हूँ। हे नारद! मैं दोनों ओर से निरन्तर इसी प्रकार क्लेश पा रहा हूँ।[6] इस लिए इस विषय में मेरा और मेरी जाति के लोगों का जिसमें कल्याण हो वैसा मुझे आप उपदेश करें।[7]

इस समस्या के निराकरण हेतु नारद कृष्ण से इस प्रकार कहते हैं—हे कृष्ण आपदाएँ वाह्य और आभ्यन्तर रूप से दो प्रकार की होती हैं। वह स्वयं उत्पन्न

१—उपराजेव राजर्धिं ज्ञातिर्न सहते सदा ॥ श्लोक ३२ अ० ८० शा० पर्व ॥

२—अरणीमग्निकामो वा मथ्नाति हृदयं मम।
वाचा दुरुक्तं देवष तन्मे दहति नित्यदा ॥ श्लोक ६ अ० ८१ शा० पर्व ॥

३—वलं सङ्कर्षणे नित्यं सौकुमार्यं पुनर्गदे।
रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद ॥ श्लोक ७ अ० ८१ शा० पर्व ॥

४—अन्ये हि सु महाभागा बलवन्तो दुरुत्सहाः।
नित्योत्थानेन सम्पन्ना नारदान्धकवृष्णयः ॥ श्लोक ८ अ० ८१ शा० पर्व ॥

५—यस्य न स्युर्न वै स स्याद्यस्य स्युः कृत्स्नमेव तत्।
द्वाभ्यां निवारितो नित्यं वृणोभ्येकतरं न च ॥ श्लोक ९ अ० ८१ शा० पर्व ॥

६—सोऽहं कितवमातेव द्वयोरपि महामते।
एकस्य जयमाशंसे द्वितीयस्यापराजयम् ॥ श्लोक ११ अ० ८१ शा० पर्व ॥

७—ममैवं क्लिश्यमानस्य नारदोभयतः सदा।
वक्तुमर्हसि यच्छ्रेयो ज्ञातीनामात्मनस्तथा ॥ श्लोक १२ अ० ८१ शा० पर्व ॥

की हुई और दूसरों के द्वारा उत्पन्न की जाती हैं ।[१] नारद कृष्ण की कठिनाइयों को बाह्य अपदा न मानकर आभ्यान्तरिक आपदा मानते हैं। उनका कथन है कि इस आपदा के दो कारण हैं। पहला कारण यह है कि कृष्ण ने अपना ऐश्वर्य दूसरे (आहुक) को दे दिया है जिसे उन की जाति के लोग देना नहीं चाहते ।[२] दूसरा यह कि धन, काम, और बीभत्स वचन के लिए उनके सभी प्रधान साथी लोग अक्रूर के अनुगत हुए हैं।[३] इन्हीं कारणों से जाति के लोगों में कोलाहल मचा है। वमन किए गए अन्न की भांति अब तुम आहुक को दिए गए ऐश्वर्य को फिर ग्रहण नहीं कर सकते। इसीलिए निज कर्म के दोष के कारण ही यह आपदा उत्पन्न हुई है ।[४] जाति-भेद के भय से अब तुम बभ्रु और उग्रसेन के राज्य का किसी प्रकार भी ग्रहण नहीं कर सकते हो ।[५] यद्यपि तुम यत्न पूर्वक अनेक कठिन कार्यों को करके उसे प्राप्त भी करलो तो ऐसा होने से महा क्षय, व्यय और विनाश उपस्थित होगा।[६] इसलिए ऐसी परिस्थिति में एक मात्र साधन नारद यह बतलाते हैं कि तितिक्षा, ऋजुता और मृदुता से दोष दूर करके तथा यथा योग्य पूजा सत्कार आदि से प्रीति गुण के सहारे अनायस मृदुमर्मच्छेदक शस्त्र से सबकी जिह्वा का उद्धार करना चाहिए।[७] फिर नारद अनायस शस्त्र की व्याख्या करते हुए बतलाते हैं कि सामर्थ्य के अनुसार सदा अन्न-दान, तितिक्षा, सरलता, कोमलता और यथायोग दूसरे की पूजा इन सबको अनायस शस्त्र जानना चाहिए।[८] मीठे वचन से जाति के लघु और कटुवादी पुरुषों के कुटिल अभिप्राय, कुवाक्य तथा दुष्ट सङ्कल्पों को नष्ट करना चाहिए।[९] महापुरुष के अति-

---

१—आपदो द्विविधाः कृष्ण बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ह ।
प्रादुर्भवन्ति वार्ष्णेय स्वकृता यदि वाऽन्यतः ।। श्लोक १३ अ० ८१ शा० पर्व ।।

२—आत्मना प्राप्तमैश्वर्यमन्यत्र प्रतिपादितम् ।। श्लोक १५ अ० ८१ शा० पर्व ।।

३—अर्थहेतोर्हि कामाद्वा वाचा बीभत्सयाऽपि वा ।। श्लोक १५ अ० ८१ शा० पर्व ।।

४—कृतमूलमिदानीं तज्ज्ञातिशब्दं सहायवन् ।
न शक्यं पुनरादातुं वान्तमन्नमिव त्वया ।। श्लोक १६ अ० ८१ शा० पर्व ।।

५—बभ्रूग्रसेनयो राज्यं नाप्तुं शक्यं कथञ्चन ।
ज्ञातिभेदभयात्कृष्ण त्वया चापि विशेषतः ।। श्लोक १७ अ० ८१ शा० पर्व ।।

६—तच्च सिध्येत्प्रयत्नेन कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
महाक्षयं व्ययो वा स्याद्विनाशो वा पुनर्भवेत् ।। श्लोक १८ अ० ८१ शा० पर्व ।।

७—अनायसेन शस्त्रेण मृदुना हृदयच्छिदा ।
जिह्वामुद्धर सर्वेषां परिमृज्यानुमृज्य च ।। श्लोक १९ अ० ८१ शा० पर्व ।।

८—शक्त्या अन्नदानं सततं तितिक्षार्जवमार्दवम् ।
यथाऽर्हप्रतिपूजा च शस्त्रमेतदनायसम् ।। श्लोक २१ अ० ८१ शा० पर्व ।।

९—ज्ञातीनां वक्तु कामानां कटुकानि लघूनि च ।
गिरा त्वं हृदयं वाचं शमयस्व मनांसि च ।। श्लोक २२ अ० ८१ शा० पर्व ।।

रिक्त कोई असहायवान तथा असावधान पुरुष उद्योगी होकर गुरुभार के उठाने में समर्थ नहीं होता । इसलिए तुम निज वक्षस्थल पर गुरुभार का वहन करो ।[१] देखो समतल वाले स्थान में सभी अनड्वान गुरुभार उठा सकते हैं, परन्तु कठिन स्थान में भली भांति दृढ़ अङ्ग से युक्त अनड्वान के अतिरिक्त सब ही अनड्वान कठिनता से उठाने योग्य भार का वहन नहीं कर सकते ।[२]

अन्धक-वृष्णि संघ के समीप ही इस संघ से एक बड़ा संघ भी था जिसका निर्माण पांच छोटे-छोटे गण राज्यों के संघीभूत होने से हुआ था और जिसमें यादव, कुकुर, भोज, अन्धक और वृष्णि इन पांच क्षत्रिय जातियों के द्वारा शासन भार वहन किया जाता था । इन जातियो के अपने अपने नेता होते थे[३] जो समय-समय पर इस बड़े संघ राज्य का अध्यक्ष पद बहुमत द्वारा प्राप्त निर्णय के अनुसार ग्रहण करते थे । कृष्ण और नारद के इस सम्वाद के आधार पर ऐसा विदित होता है कि जिस समय की घटना का इस सम्वाद में उल्लेख है उस समय इस बड़े संघराज्य का अध्यक्ष पद कृष्ण को प्राप्त था । इस प्रसंग में नारद ने कृष्ण को संघमुख्य कहकर सम्बोधित किया है ।[४] वह कृष्ण से कहते हैं कि यादव, कुकुर, भोज, अन्धक और वृष्णि वंशीय समस्त क्षत्रिय लोग उन्हीं के आश्रित हैं ।[५] पारस्परिक कलह के कारण पतनोन्मुख इस संघ के नाश से इसकी जिस प्रकार रक्षा हो सके वैसा उपाय उनको करना चाहिए ।[६] जिससे धन, यश, आयु और स्वपक्ष की वृद्धि हो और जाति के पुरुषों का नाश न हो ऐसा कार्य उन्हें करना चाहिए ।[७] वह षाड्गुण्य नीति में कुशल हैं ।[८] कृष्ण ही एक ऐसे महापुरुष हैं जो इस गुरुभार को धारण कर सकते हैं। इसलिए उनको अपने वक्षस्थल पर उस भार को ग्रहण करना चाहिए ।[९]

१—नामहापुरुषः कश्चिन्नानात्मा नासहायवान ।
महतीं धुरमाधत्ते तामुद्यम्योरसा वह ।। श्लोक २३ अ० ८१ शा० पर्व ।।

२—सर्वं एव गुरुं भारमनड्वान्वहते समे ।
दुर्गे प्रतीकः सुगवो भारं वहति दुर्वहम् ।। श्लोक २४ अ० ८१ शा० पर्व ।।

३—यादवाः कुकुरा भोजाः सर्वे चान्धकवृष्णयः ।
त्वय्यासक्ता महाबाहो लोकलोकेश्वराश्च ये ।। श्लोक २९ अ० ८१ शा० पर्व ।।

४—सङ्घमुख्योऽसि केशव ।। श्लोक २५ अ० ८१ शा० पर्व ।।

५—यादवाः कुकुरा भोजाः सर्वे चान्धकवृष्णयः ।
त्वय्यासक्ता महाबाहो लोकलोकेश्वराश्च ये ।। श्लोक २९ अ० ८१ शा० पर्व ।।

६—भेदाद्विनाशः सङ्घानां संघमुख्योऽसि केशव ।
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेदयं सङ्घस्तथा कुरु ।। श्लोक २५ अ० ८१ शा० पर्व ।।

७—धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वपक्षोद्भावनं सदा ।
ज्ञातीनामविनाशः स्याद्यथा कृष्ण तथा कुरु ।। श्लोक २७ अ० ८१ शा० पर्व ।।

८—आयत्यां च तदात्वे च न तेऽस्त्यविदितं प्रभो ।
षाड्गुणस्य विधानेन यात्रायानविधौ तथा ।। श्लोक २८ अ० ८१ शा० पर्व ।।

९—महतीं धुरमाधत्ते तामुद्यम्योरसा वह ।। श्लोक २३ अ० ८१ शा० पर्व ।।

महाभारत के आदि पर्व में वर्णन किया गया है कि इन पांचों गणों के संघराज्य की एक संयुक्त सभा थी, और जो सुधर्मा के नाम से सम्बोधित की जाती थी। अन्धक, वृष्णि, कुकुर, भोज और यादव क्षत्रिय जातियों के समस्त शासन विषयों में यही सभा अपना निर्णय देती थी और जो सबके लिए मान्य समझा जाता था। सुभद्रा-हरण का समाचार सभापाल के द्वारा सभा तक पहुँचाया गया था। सभापाल ने विगुल बजाया। विगुल की ध्वनि सुनते ही यादव, अन्धक, वृष्णि भोज और कुकुर वंशीय क्षत्रिय वीरों ने सभा में इस उद्देश्य के लिए प्रवेश किया कि वह सब मिलकर इस विषय पर विचार करें कि उन्हें इस विषय में क्या करना चाहिए।[1] सभा में पहुंचकर उन्होंने आसन ग्रहण किए और फिर प्रस्तुत विषय पर अपने मत प्रकट किए और इस प्रकार एक निर्णय पर पहुँचे जो कार्यरूप में परिणत किया गया।

इस घटना से इस सिद्धान्त की स्थापना होती है कि गणतंत्रात्मक राज्यों के संघ राज्यों में सभा सर्वोच्च राजनीतिक संस्था होती थी और यह सभा प्रत्येक प्रकार से जनतंत्रात्मक सिद्धान्तों के आधार पर निर्माण की जाती थी।

गणराज्यों का संघरूप में संघठित होना उनका विशेष लक्षण था। उस काल के राज्यों की अधिक संख्या ऐसी थी जो क्षेत्रफल एवं जनगणना की दृष्टि से बहुत छोटे होते थे। इन राज्यों की सबसे गहन समस्या जो इन राज्यों के निवासियों ने उस समय अनुभव की होगी, विशेष कर देश के ऐसे भाग में जहां निरन्तर बाह्य आक्रमण होते रहते थे और अधिकार-प्राप्ति के लिए जहां प्रतिक्षण आन्तरिक उत्पात होते रहते थे, इनकी रक्षा का प्रश्न था। संघशक्ति के सिद्धान्त से वह लोग अवश्य परिचित रहे होंगे। इसलिए ऐसी परिस्थिति में उनके समक्ष केवल एक मार्ग था और वह यह था कि पास-पड़ोस के छोटे-छोटे राज्य एक सूत्र में गुथ कर अपनी रक्षा की जटिल समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करें। इसी में उन्होंने अपना कल्याण समझा होगा।

इन राज्यों की इस निर्बलता की भी भीष्म ने महाभारत के शान्ति पर्व में विशेष विवेचना की है। इस प्रकरण में वह गण राज्यों को सचेत करते हुए ओजपूर्ण शब्दों में इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं कि इन राज्यों का कल्याण संघीभूत होने में ही होता है।[2] भीष्म ने राज्यों को एक दूसरे से अलग रखने के सिद्धान्त का घोर विरोध किया है।[3] भीष्म द्वारा वर्णित अन्धक-वृष्णि संघ एवं यादव, कुकुर, भोज, अन्धक और वृष्णि संघ इसी सिद्धान्त के अनुसार संघीभूत हुए थे। इस प्रकार से संघीभूत

१—ते समासाद्य सहिताः सुधर्मामभितः सभाम् ॥ श्लोक ११ अ० २२२ आदि पर्व ॥

२—तस्मात्संघातमेवाहुर्गणानां शरणं महत् ॥ श्लोक ३२ अ० १०७ शा० पर्व ॥

३—भेदे गणा विनश्युर्हि भिन्नास्तु सुजयाः परैः।
तस्मात्संघातयोगेन प्रयतेरन्गणाः सदा ॥ श्लोक १४ अ० १०७ शान्तिपर्व ॥

हुआ प्रत्येक राज्य अपने संघराज्य की एक इकाई बन जाता था। प्रत्येक ऐसे राज्य को अपने आन्तरिक शासन में स्वतंत्रता रहती थी और उसके आन्तरिक शासन का भार उस राज्य के निवासियों पर ही निर्भर रहता था। संघराज्य में संघीभूत हुए समस्त राज्यों से सम्बन्धित विषयों को, शासन प्रबन्ध अधिक सुचारू रूप से होने के निमित्त, संघराज्य को हस्तांतरित कर दिया जाता था। इन विषयों में सबसे महत्त्व-पूर्ण विषय उनकी रक्षा का प्रश्न होता था।

संघ प्रणाली द्वारा राज्यों की जो व्यवस्था भीष्म ने शान्ति पर्व में वर्णन की है उसका समर्थन महाभारत के सभापर्व में वर्णित कतिपय संघराज्यों से सम्बन्धित वर्णन से भी होता है। महाभारत के सभापर्व में अर्जुन की दिग्विजय का उल्लेख है। इसी प्रसंग में यह वर्णन दिया गया है कि अर्जुन ने उत्तर उलूक देश में स्थित पञ्च-गणों को जीता था।[1] इस वर्णन से विदित होता है कि यह पांच गण पांच गणराज्य थे जो एक संघ के अन्तर्गत संघठित हुए थे। आगे चलकर इसी प्रसंग में सातगण राज्यों के संघठित होने की ओर संकेत किया गया है। यह सातगण-राज्य हिमालय पर्वत के समीप स्थित थे। "सप्तगण" इस बात का सूचक है कि इन सात गण राज्यों ने संघीभूत होकर अर्जुन के आक्रमण का अवरोध किया होगा। इसलिए सप्त-गण सात गण राज्यों का ही नाम मानना उचित होगा।[2] इसके उपरान्त उसी प्रकरण में दशमण्डल राज्य का उल्लेख है जिससे विदित होता है कि दस गण राज्यों ने मिलकर दशमण्डल नाम के एक संघराज्य का निर्माण किया था। इस संघराज्य का एक अध्यक्ष अथवा प्रधान था जिसको लोहित नाम से महाभारतकार ने वहां सम्बोधित किया है।[3]

इस प्रकार भीष्म ने जिन गणों एवं संघों का वर्णन महाभारत के शान्तिपर्व के ८१ वें और १०७ वें अध्यायों में विशेष रूप से किया है और जिसका समर्थन महा-भारत के सभापर्व तथा आदिपर्व में भी किया गया है उससे यह सिद्ध होता है कि यह गण एवं संघ क्रमशः गणराज्य एवं संघराज्य थे जो लोकतंत्रात्मक प्रकार के राज्यों के उच्च कोटि के प्रमाण हैं। लोकतंत्रात्मक राज्य के मुख्य तत्व—लोक-राजसत्ता, राज्य का निर्वाचित अध्यक्ष, लोकसभाएँ जिनका दायित्व जनता पर था, और लोकतंत्रात्मक प्रणाली का इन राज्यों के दैनिक कार्यों में बरता जाना लोकतंत्रात्मक राज्यों के क्षेत्र में भीष्म की बड़ी देन हैं जिनके लिए वह सदैव स्मरण किए जाएँगे।

१—किरीटी जितवान्राजन्देशान्पञ्चगणांस्ततः ।। श्लोक १२ अ० २७ सभापर्व ।।

२—गणानुत्सवसङ्केतानजयत्सप्तपाण्डवः ।। श्लोक १६ अ० २७ सभा पर्व ।।

३—व्यजयल्लोहितं चैव मण्डलैर्दशभिः सह ।। श्लोक १७ अ० २७ सभा पर्व ।।

अष्टम अध्याय

सेना और युद्ध

भीष्म सप्तांग राज्य का एक प्रधान अंग दण्ड मानते हैं।[1] वह दण्ड के दो रूप बतलाते हैं जिनको वह अप्रकाश दण्ड और प्रकाश दण्ड के नाम से सम्बोधित करते हैं।[2] अप्रकाश दण्ड अनेक प्रकार का बतलाया गया है।[3] जङ्गम और अजङ्गम चूर्ण, योग, वस्त्र और भोजन में विष का संयोग करना आदि अनेक प्रकार के अप्रकाश दण्ड बतलाए गए है।[4] भीष्म प्रकाश दण्ड को बल (सेना) मानते हैं जिसके उन्होंने आठ अंग माने हैं।[5] सेना के यह आठ अंग रथारोही, गजारोही, अश्वारोही, नौकारोही, पैदल, विष्टि (भारवाहक) गुप्तचर, और उपदेशक हैं।[6] इस प्रकार भीष्म ने सेना के यह आठ अंग माने हैं।

कौटिल्य ने मूल, भृतक, श्रेणिबल, मित्रबल, अमित्रबल, और अरिबल यह छः प्रकार का बल माना है।[7] परन्तु भीष्म ने सेना का इस प्रकार कहीं भी वर्गीकरण नहीं किया है। इससे ऐसा विदित होता है कि भीष्म केवल उस सेना को राज्य के लिए उपयोगी समझते होंगें जिसको राज्य स्वयं स्थायी रूप से रखता था। अन्य प्रकार की सेना की उपयोगिता में उन्हें सन्देह रहा होगा। इसी लिए वह सेना के उपर्युक्त प्रकारों के वर्णन करने में मौन दिखलायी पड़ते हैं।

भीष्म ने सेना का विशेष वर्णन नहीं किया है। इस दृष्टि से भीष्म प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के अन्य प्रणेताओं जैसे शुक्र और कौटिल्य से भिन्नता रखते हैं। इसलिए, सेना एवं उसके विभिन्न प्रकारों के विषय में भीष्म के क्या विचार रहे होंगे इस विषय में अधिक नहीं लिखा जा सकता।

१—आत्माऽमात्याश्च कोषाश्च दण्डो मित्राणि चैव हि ॥ श्लोक ६४ अ० ६९ शा० पर्व ॥
तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरुनन्दन ॥
एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः ॥ श्लोक ६५ अ० ६९ शान्ति पर्व ॥

२—प्रकाशश्चाप्रकाशश्च दण्डोऽथ परिशब्दितः ॥ श्लोक ४० अ० ५९ शान्ति पर्व ॥

३—गुह्यश्च बहुविस्तरः ॥ श्लोक ४० अ० ५९ शान्ति पर्व ॥

४—जङ्गमाजङ्गमाश्चोक्ताश्चूर्णयोगा विषादयः ॥ श्लोक ४२ अ० ५९ शान्ति पर्व ॥

५—प्रकाशोऽष्टविधस्तत्र ॥ श्लोक ४० अ० ५९ शान्ति पर्व ॥

६—रथा नागा हयाश्चैव पादाताश्चैव पाण्डव।
विष्टिर्नावश्चराश्चैव देशिका इति चाष्टमम् ॥ श्लोक ४१ अ० ५९ शान्ति पर्व ॥

७—मौलभृतकश्रेणीमित्रामित्राटवीबलानां समुद्दानकालाः ॥ वार्ता १ अ० २ अधि० ९ अ० शा

युद्ध की वैधानिकता---भीष्म विख्यात योद्धा थे। उन्होंने युद्ध के कुपरिणामों को भली भांति समझ लिया था। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने युद्ध करने का निषेध किया है। उनका मत यह है कि युद्ध विवशता का साधन है जब किसी अन्य साधन से अर्थ की सिद्धि न होती हो और वह युद्ध के लिए विवश हो तो ऐसी दशा में ही युद्ध किया जाना चाहिए। युद्ध करने के निषेध के पक्ष में उन्होंने अपना मत महाभारत के शान्तिपर्व में कयी प्रसंगों में प्रकट किया है।

केवल राज्य-वृद्धि की लिप्सा हेतु युद्धघोषित किया जाए भीष्म इसके विरोधी थे। वह अपने इस मत की पुष्टि में वृहस्पति द्वारा दी गयी व्यवस्था को उद्धृत करते हुए कहते हैं—बुद्धिमान राजा को राज्य-विस्तार की अभिलाषा से युद्ध कभी भी नहीं करना चाहिए। वृहस्पति ने राज्य की वृद्धि साम, दान, और भेद इन तीन उपायों के आश्रित मानी है। राजा साम, दान, और भेद उपायों के द्वारा जिस कार्य को सिद्ध कर लेता है उसको उसी में सन्तोष करना चाहिए। राजा की इसी में निपुणता मानी गयी है कि वह अपने कार्यों की सिद्धि साम, दान और भेद उपायों से करता रहे।[1] भीष्म युद्ध का निषेध करते हुए दूसरे स्थल पर कहते हैं---साम, दान और भेद के उपरान्त युद्ध का आश्रय लेना उचित होता है।[2] इस विषय में वह वृहस्पति द्वारा दी गयी व्यवस्था को पुनः उद्धृत करते हुए कहते हैं---राजा को अपने अपकारी जनों को कलह से दमन करने की अभिलाषा कभी भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि क्रोध और अक्षमा का आश्रय बालक ही लिया करते हैं।[3] युद्ध निषेध के सिद्धान्त की पुष्टि में भीष्म एक प्रसंग में वामदेव के मत का उद्धरण देते हुए कहते हैं---राजा को बिना युद्ध किए हुए ही विजय प्राप्त करनी चाहिए। युद्ध से जो विजय प्राप्त होती है पण्डित लोग ऐसी विजय को निन्दित कहा करते हैं।[4] इस प्रकार भीष्म युद्ध-निषेध सिद्धान्त के पोषक थे।

भीष्म के इस सिद्धान्त का समर्थन मानवधर्मशास्त्र में भी किया गया है। मानव धर्मशास्त्र में युद्ध (दण्ड) उपाय के प्रयोग की अपेक्षा अन्य तीन (साम, दान,

---

१---वर्जनीयं सदा युद्धं राज्यकामेन धीमता।
उपायैस्त्रिभिरादानमर्थस्याह बृहस्पतिः ।। श्लोक २३ अ० ६९ शान्ति पर्व ।।
सान्त्वेन तु प्रदानेन भेदेन च नराधिप ।।
यदर्थं शक्नुयात्प्राप्तुं तेन तुष्येत पण्डितः ।। श्लोक २४ अ० ६९ शान्ति पर्व ।।

२---सन्निपातो न मन्तव्यः शक्ये सति कथञ्चन ।।
सान्त्वभेदप्रदानानां युद्धमुत्तरमुच्यते ।। श्लोक २२ अ० १०२ शा० पर्व ।।

३---नजातु कलहेनेच्छेन्नियन्तुमपकारिणः।
बालैरासेवितं ह्येतद्यदमर्षो यदक्षमी ।। श्लोक ७ अ० १०३ शा० पर्व ।।

४---अयुद्धेनैव विजयं वर्धयेद्वसुधाधिपः।
जघन्यमाहुर्विजयं युद्धेन च नराधिप ।। श्लोक १ अ० ९४ शान्ति पर्व ।।

भेद) उपायों से अपना कार्य सिद्ध करना अधिक श्रेयस्कर माना गया है। इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में इस प्रकार आदेश दिया गया है—(यदि सम्भव हो) राजा को साम, दान, और भेद इन तीन उपायों में से एक-एक से अथवा तीनों से शत्रु पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए युद्ध से कभी नहीं।[1] शुक्र नीति में भी भीष्म के युद्ध टालने से सम्बन्धित विचारों की पुष्टि की गयी है। शुक्र नीति में शत्रु को वश में करने अथवा किसी अन्य शक्तिशाली राजा के आक्रमण से अपने राज्य की रक्षा करने के निमित्त इस बात का आदेश दिया गया है कि राजा को अपने तथा शत्रु के सामादि उपायों और सन्धि-विग्रह आदि छः गुणों की ओर सजग होकर देखते रहना चाहिए। जबतक सर्वस्व अपहरण या प्राण-संकट उपस्थित न हो जाए तबतक युद्ध को टालना ही चाहिए।[2]

इस प्रकार भीष्म के युद्ध-निषेध सन्बन्धी सिद्धान्त का समर्थन मनु और शुक्र दोनों ने किया है।

भीष्म ने युद्ध-निषेध सिद्धान्त का प्रतिपादन तो किया ही है साथ ही उन्होंने कुछ ऐसी परिस्थितियों का भी उल्लेख किया है जिनमें युद्ध घोषित किया जाना वैध माना गया है। इस विषय में सर्व प्रथम वह परिस्थिति है जिसमें लोकरक्षा-कार्य में विघ्न पड़ता हो। राजा का सर्व प्रथम कर्त्तव्य लोकरक्षा माना गया है। ऐसी स्थिति में राजा के इस कर्त्तव्य पालन में यदि विघ्न-बाधाएँ आती हों तो उन विघ्न-बाधाओं के शमन के निमित्त राजा को युद्ध घोषित करने का अधिकार दिया गया है। इस सिद्धान्त की पुष्टि भीष्म ने इन शब्दों में की है—जो राजा प्रतिपालन करने योग्य प्राणियों का सदैव प्रतिपालन करता रहता है वही राजसत्तम है; और जो राजा उनकी रक्षा नहीं करते उनसे कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।[3] (इसलिए) हे युधिष्ठिर राजा को लोकरक्षा के निमित्त सदैव युद्ध करना चाहिए।[4] इस प्रकार जब कहीं अन्याय पूर्ण प्राणियों का नाश किया जा रहा हो राजा का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उन प्राणियों की रक्षा करे और ऐसा करने में यदि युद्ध करने की भी आवश्यकता आ पड़े तो उसको युद्ध करना चाहिए और ऐसी परिस्थिति में युद्ध घोषणा वैध समझी जाएगी।

१—साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन॥ श्लोक १९८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२—उपायान्षड्गुणान्वीक्ष्यशत्रो: स्वस्यापि सर्वदा।
युद्धं प्राणात्यये कुर्यात्सर्वस्व हरणेसति॥ श्लोक ११३१ अ० ४ शुक्रनीति॥

३—संरक्ष्यान्पालयेद्राजा स राजा राजसत्तमः।
ये केचित्तान्न रक्षन्ति तैरर्थो नास्ति कश्चन॥ श्लोक १० अ० ८९ शान्ति पर्व॥

४—सदैव राजा योद्धव्यं सर्वलोकाद्युधिष्ठिर॥
तस्माद्धेतोर्हि भुञ्जीत मनुष्यानेव मानवः॥ श्लोक ११ अ० ८९ शान्ति पर्व॥

इस विषय में युद्ध की दूसरी परिस्थिति वह बतलायी गयी है जब कि राजा के समक्ष अपनी प्रजा के रक्षण का प्रश्न उपस्थित होता है। ऐसी परिस्थिति में राजा को अपने प्राणों का मोह त्याग कर युद्ध करना चाहिए। इस विषय में भीष्म इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—जब प्राण की बाजी लगाकर राजा युद्ध करता है, तो उस समय या तो राजा मृत्यु को प्राप्त होगा अथवा इस युद्ध से प्रजा की रक्षा हो जाएगी। ऐसा निश्चय करके जो राजा युद्ध में प्रवृत्त होता है उसको सन्यास आश्रम धारण करने के पुण्य की प्राप्ति होती है।[1]

राजा का यह कर्त्तव्य है कि धर्म-परायण जनता की रक्षा की जाए। राजा के इस कर्तव्य-पालन में यदि उसको दूसरे राष्ट्र का मर्दन भी करना पड़े तो भी उसका यह कार्य वैध बतलाया गया है। भीष्म ऐसी परिस्थिति में पर राष्ट्रों से युद्ध करना नियम विहित बतलाते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है - साधु पुरुषों की रक्षा के लिए दूसरे राज्य को दमन करने वाले राजा वानप्रस्थ पुरुषों की भांति मोक्ष पद प्राप्त करते हैं।[2] इस प्रकार भीष्म ने साधु-पुरुषों की रक्षा के निमित्त युद्ध घोषित करना वैध माना है।

इसके अतिरिक्त शरणागत के परित्राण हेतु किया गया युद्ध भी भीष्म ने वैध माना है। इस विषय में वह अपना मत इस प्रकार प्रकट करते हुए राजा युधिष्ठिर को यह आदेश देते हैं—हे कुरुवंश श्रेष्ठ! जिन लोगों पर बल पूर्वक अत्याचार किए गए हैं और उन अत्याचारों से पीड़ित होकर वह रक्षा के निमित्त जब शरणागत होते हैं ऐसी परिस्थिति में जो राजा उन शरणार्थियों की रक्षा के हेतु युद्ध करता हैं तो उसको गृहस्थ धर्म-पालन का फल प्राप्त होता है।[3] इस प्रकार भीष्म उन शरणार्थियो की रक्षा हेतु युद्ध घोषित किया जाना वैध बतलाते हैं जिन पर अत्याचार किए गए हैं।

भीष्म,इस प्रकार, प्रजारक्षण कार्य, लोकरक्षा कार्य, शिष्ट रक्षा कार्य और अत्याचारों से पीड़ित शरण में आए हुए लोगों की रक्षा, एवं ऐसे ही अन्य निमित्तों के हेतु युद्ध घोषित करना वैध मानते हैं। उनकी दृष्टि में राज्य लिप्सा अथवा वैर-शोधन मात्र के निमित्त युद्ध घोषित कर प्राणियो का वध करा देना उचित नहीं है।

१—मृत्युर्वा रक्षणं वेति यस्य राज्ञो विनिश्चयः।
प्राणद्यूते ततस्तस्य ब्रंह्माश्रमपदं भवेत्॥ श्लोक १९ अ० ६६ शान्ति पर्व॥

२—मर्दनं परराष्ट्राणां शिष्टार्थं सत्यविक्रम।
कुर्वतः पुरुषव्याघ्र वन्याश्रमपदं भवेत्॥ श्लोक १२ अ० ६६ शान्ति पर्व॥

३—बलात्कृतेषु भूतेषु परित्राणं कुरूद्वह।
शरणागतेषु कौरव्य कुर्वन्गार्हस्थ्यमावसेत्॥ श्लोक २१ अ० ६६ शान्ति पर्व॥

धर्मयुद्ध के कतिपय नियम—निर्धारित नियमों के अनुसार युद्ध करना प्राचीन भारत में धर्मयुद्ध माना गया है। भीष्म ने भी इन नियमों में से कुछ नियमों का उल्लेख किया है। यह नियम इस प्रकार बतलाए गए हैं—राजा को सदैव राजा के साथ ही युद्ध करना चाहिए इस लिए दूसरे क्षत्रिय पुरुषों को राजा के सम्मुख होकर कभी शस्त्र चलाना नहीं चाहिए।[1] जो पुरुष रणक्षेत्र में कवच रहित होकर हाथ जोड़कर 'मैं आप की शरण में हूँ' ऐसा बचन कहकर शस्त्र परित्याग कर देता है, ऐसे मनुष्य का वध नहीं करना चाहिए।[2] दो शत्रुओं की सेनाएँ युद्ध के लिए एकत्र होने पर यदि ब्राह्मण उसके मध्यवर्त्ती होकर शान्ति-अवलम्बन के लिए आदेश दे तो दोनों दलों को शान्ति-अवलम्बन कर युद्ध से निवृत्त हो जाना चाहिए।[3] जो क्षत्रिय इस नियम का उलंघन करते हैं वह अधम क्षत्रियों में गिने जाते हैं।[4] प्राण हीन एवं अनपत्य, का वध नहीं करना चाहिए। जिसका शस्त्र टूट गया हो, अथवा वाहन-रहित हो तो उस पर अस्त्र चलाना नहीं चाहिए। यदि ऐसा पुरुष अपने राज्य में अथवा गृह में पाया जाए तो उसकी विधिवत चिकित्सा करानी चाहिए और व्रण रहित हो जाने पर उसको मुक्त कर देना चाहिए—यही सनातन धर्म है।[5] भीष्म इन्द्र और राजा अम्बरीष के उपाख्यान के आधार पर युद्ध का यह नियम निर्धारित करते हैं—युद्ध में वृद्ध, बालक, स्त्री और रथ के पृष्ठ भाग में रहनेवाले पुरुषों (रथरक्षकों) का वध नहीं करना चाहिए।[6] जो पुरुष युद्ध के समय अपने मुख में तृण ग्रहण कर "मैं आपका हुआ" ऐसा वचन कहता हो उसका वध नहीं करना चाहिए।[7]

१—राज्ञा राजेव योद्धव्यस्तथा धर्मो विधीयते ।
नान्यो राजानमभ्यस्येदराजन्यः कथञ्चन ।। श्लोक ७ अ० ९६ शा० पर्व ।।

२—विशीर्णकवचं चैव तवास्मीति च वादिनम् ।
कृताञ्जलिं न्यस्तशस्त्रं गहीत्वा न विहिंसयेत् ।। श्लोक ३ अ० ९६ शा० पर्व ।।

३—अनीकयोः संहतयोर्यदीयादब्राह्मणोन्तरा ।
शान्तिमिच्छन्नुभयतो न योद्धव्यं तदा भवेत् ।। श्लोक ८ अ० ९६ शा० पर्व ।।

४—मर्यादां शाश्वतीं भिद्याद्ब्राह्मणं योऽभिलंघयेत् ।
अथ चेल्लंघयेदेवमर्यादां क्षत्रिय ब्रुवः ।। श्लोक ९ अ० ९६ शा० पर्व ।।

५—निष्प्राणो नाभिहन्तव्यो नानपत्यः कथञ्चन ।। श्लोक १२ अ० ९५ शा० पर्व ।।
भग्नशस्त्रो विपन्नश्च कृत्तज्यो हृतवाहनः ।
चिकित्सयः स्यात्स्वविषयेप्राप्यो वा स्वगृहे भवेत् ।।श्लोक १३ अ० ९५ शा०पर्व।।
निर्व्रणश्च स मोक्तव्य एषधर्मः सनातनः ।। श्लोक १४ अ० ९५ शा० पर्व ।।

६—वृद्धवालौ न हन्तव्यौ न च स्त्री नैव पृष्ठतः ।। श्लोक ४८ अ० ९८ शा० पर्व ।।

७—तणपूर्णमुखश्चैव तवास्मीति च यो वदेत ।। श्लोक ४९ अ० ९८ शा० पर्व ।।

रणक्षेत्र में स्थित वीर पुरुष के निमित्त युद्ध नियमों का वर्णन करते हुए भीष्म एक प्रसंग में राजा युधिष्ठिर को इस प्रकार आदेश देते हुए कहते हैं--मोक्ष-मार्ग-अवलम्बन करनेवाले, रण से भागे हुए, भोजन करते एवं पीते हुए तथा सोते, प्यासे अथवा विक्षिप्त पुरुषों पर प्रहार नहीं करना चाहिए। जो पुरुष अत्यन्त विक्षिप्त, व्यतिक्षिप्त, निहत, प्रतनूकृत, अविश्रुत, कृतारंभ, सुरंग आदि गुप्त उपाय जानने वाले, प्रतापित, तृण आदि के लाने के निमित्त बाहर होने वाले, निजगृह, राजद्वार, अथवा अमात्यद्वार के अनुवर्त्ती एवं अपने स्वामी की परिचर्या में रत इन सबका बध नहीं करना चाहिए।[1]

प्राचीन भारत में दूत अवध्य माना गया है। इस व्यवस्था की मान्यता भीष्म ने भी दी है। इस विषय में भीष्म यह व्यवस्था देते हैं---राजा को किसी भी आपद् में दूत का वध कभी भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि दूत के मारने वाले राजा मंत्रियों के सहित नरकगामी हुआ करते हैं। क्षात्र धर्म में रत जो राजा यथोक्तवादी दूत का वध करता है उसके पितर भ्रूण हत्या पाप के भागी हुआ करते हैं।[2]

प्राचीन भारत के अन्य आचार्यों ने धर्मयुद्ध के नियमों का वर्णन लगभग इसी प्रकार किया है। रामायण के किष्किन्धा काण्ड में किष्किन्धा के राजा वालि और वीर योद्धा दुन्दुभि के मध्य एक युद्ध हुआ था ऐसा वर्णन किया गया है। इस वर्णन में धर्मयुद्ध के कतिपय नियमों की ओर भी संकेत किया गया है। इस प्रसंग में दुन्दुभि ने वालि का ध्यान धर्म-युद्ध के इन नियमों की ओर आकृष्ट करते हुए ऐसा कहा है कि जो व्यक्ति मद के कारण मत्त, असावधान, भागते हुए, अस्त्रहीन और दुर्बल को मारता है तथा स्त्रियों के साथ रहने वाले का वध करता है उसको भ्रूण हत्या का पाप होता है।[3] रामायण के युद्ध काण्ड में भी रामचन्द्र ने धर्म-युद्ध

१—मोक्षे प्रयाणे चलने पानभोजनकालयोः।
अतिक्षिप्तान्व्यतिक्षिप्तान् निहतान्प्रतनूकृतान् ॥श्लोक २७ अ० १०० शा० पर्व॥
अविश्रब्धान्कृतारम्भान् पन्यासात्प्रतापितान्।
वहिश्चरानुपन्यासान्कृतवेश्मानुसारिणः ॥ श्लोक २८ अ० १०० शा० पर्व ॥
पारम्पर्यागते द्वारे ये केचिदनुवर्तिनः।
परिचर्यावतो द्वारे ये च केचन वर्गिणः॥ श्लोक २९ अ० १०० शा० पर्व ॥

२—न तु हन्यान्नृपो जातु दूतं कस्याञ्चिदापदि।
दूतस्य हन्ता निरयमाविशेत्सचिवैः सह॥ श्लोक २६ अ० ८५ शा० पर्व ॥
यथोक्तवादिनं दूतं क्षत्रधर्मरतो नृपः।
यो हन्यात्पितरस्तस्य भ्रूणहत्यामवाप्नुयुः॥ श्लोक २७ अ० ८५ शा० पर्व ॥

३—यो हि मत्तं प्रमत्तं वा भग्नं वा रहितं कृशम्।
हन्यत्सभ्रणहा लोके त्वद्विधं मदमोहितम् ॥श्लोक ३६ सर्ग ११ किष्किन्धाकाण्ड॥

के कतिपय नियमों की ओर इस प्रकार संकेत किया है--जो युद्ध नहीं करता, जो छिपा हो, जो हाथ जोड़कर शरण में आया है जो भागा जा रहा हो इन सबका वध नहीं करना चाहिए।[1]

शान्ति पर्व के अतिरिक्त महाभारत के अन्य पर्वों में भी यत्र-तत्र धर्म-युद्ध के नियमों का उल्लेख किया गया है। महाभारत के भीष्म पर्व में यह स्पष्ट दिया गया है कि महाभारत युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व कौरव, पाण्डव, और सोमक वंशीय क्षत्रियों ने इस प्रकार युद्ध मियम निर्धारित किए थे[2]--जब निर्धारित नियम के अनुसार युद्ध रोक दिया जाय तब दोनों पक्षों की परस्पर प्रीति पूर्ववत हो जानी चाहिए।[3] दो तुल्य योद्धाओं का ही संघर्ष होना चाहिए। इन नियमों का अतिक्रमण नहीं किया जाना चाहिए और न किसी योद्धा को अन्याय से युद्ध में प्रवृत्त होना चाहिए।[4] जब वाणी का युद्ध हो रहा हो तो उसका उत्तर वाणी से ही देना उचित होगा। जब युद्ध-भूमि से सेना निकल गयी हो तो उस पर पुनः किसी प्रकार आक्रमण नहीं किया जाएगा।[5] जो रथा-रोही है वह रथा-रोही से और जो गजा-रोही है वह गजा-रोही से और अश्वा-रोही अश्वा-रोही से तथा पैदल सैनिकों से पैदल सैनिकों को युद्ध करना चाहिए।[6] जब कभी प्रहार किया जाए तो यथायोग्य अपने तुल्य शक्तिवाले के साथ कामनानुसार उसको चैतन्य करके उस पर प्रहार करना चाहिए।[7] किसी एक व्यक्ति के साथ संलग्न, शरणागत, युद्ध के विमुख, शस्त्रहीन और कवचरहित वीर का कभी वध नहीं करना चाहिए।[8] इसी प्रकार सारथी, रथ के अग्रगामी-

---

१--अयुध्यमानं प्रच्छन्नं प्राञ्जलिं शरणागतम्।
पलायमानं मत्तं वा न हन्तु त्वामिहार्हसि।। श्लोक ३९ सर्ग ८० युद्ध काण्ड।।

२--ततस्ते समयं चक्रुः कुरुपाण्डवसोमकाः।
धर्मान्संस्थापयामासुयद्धानां भरतर्षभ।। श्लोक २६, २७ अ० १ भीष्म पर्व।।

३--निवृत्ते विहिते युद्धे स्यात्प्रीतिर्नः परस्परम्।। श्लोक २७ अ० १ भीष्म पर्व।।

४--यथापरं यथायोगं न च स्यात्कस्यचित्पुनः।। श्लोक २८ अ० १ भीष्म पर्व।।

५--वाचायुद्धप्रवृत्तानां वाचैव प्रतियोधनम्।
निष्क्रान्ताः पृतनामध्यान्न हन्तव्याः कदाचन।। श्लोक २८ अ० १ भीष्म पर्व।।

६--रथी च रथिना योध्यो गजेन गजधूर्गतः।
अश्वेनाऽश्वी पदातिश्च पादातेनैव भारत।। श्लोक २९ अ० १ भीष्म पर्व।।

७--यथायोगं यथाकामं यथोत्साहं यथाबलम्।
समाभाष्य प्रहर्त्तव्यं न विश्वस्ते न विह्वले।। श्लोक ३० अ० १ भीष्म पर्व।।

८--एकेन सह संयुक्तः प्रपन्नो विमुखस्तथा।
क्षीणशस्त्रो विवर्मा च न हन्तव्यः कदाचन।। श्लोक ३१ अ० १ भीष्म पर्व।।

शस्त्र ले चलाने वाले, तथा शंख और भेरी बजानेवालों पर कभी प्रहार नहीं करना चाहिए।[1]

महाभारत के वन पर्व में उन कतिपय युद्ध नियमों का वर्णन है जिनका पालन वृष्णि राज्य में श्रेयस्कर माना जाता था। वह इस प्रकार है---स्त्री, बाल और वृद्ध, रथरहित, घायल और शस्त्रहीन व्यक्तियों पर वृष्णि वंश के वीर आक्रमण नहीं करते।[2] प्रद्युम्न के शब्दों में वृष्णि वंश में रण स्थल से भागने वाला, गिरे हुए को मारने वाला और युद्ध में दीन वचन कहनेवाला हुआ ही नहीं।[3]

इसके अतिरिक्त रामायण और महाभारत दोनों ग्रन्थों में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि साधारण व्यक्तियों पर असाधारण अस्त्रों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस विषय में रामायण के युद्ध काण्ड में एक घटना का उल्लेख है जो इस सिद्धान्त की पुष्टि करती है। वह इस प्रकार है---रावण-पुत्र इन्द्रजित आकाश में अदृश्य होकर लक्ष्मण एवं उनकी सेना पर घोर वाण वर्षा कर रहा था जिससे लक्ष्मण समस्त राक्षसों के वध के निमित्त ब्रह्मास्त्र के प्रयोग करने के लिए सन्नद्ध हो गए।[4] ऐसा देखकर राम ने यह कहकर कि एक के निमित्त दूसरे समस्त राक्षसों का वध करना उचित नहीं है ब्रह्मास्त्र के प्रयोग का निषेध किया।[5] इस विचार का समर्थन महाभारत में दूसरे शब्दों में किया गया है---राजा युधिष्ठिर के द्वारा यह पूछे जाने पर कि वह कितने समय में कौरव सेना को नष्ट करने में समर्थ हैं अर्जुन ने इसका उत्तर दिया कि यदि मेरी सहायता में श्रीकृष्ण रहें तो मैं अकेला ही देवों के सहित इस समस्त चराचर त्रिलोकी एवं भविष्य में होनेवाले वीरों को एक ही क्षण में मार सकता हूँ, ऐसा मेरा निश्चय है, क्योंकि पशुपति शंकर ने किरात भेष धारण कर मेरे साथ युद्ध किया और उस युद्ध में प्रसन्न होकर मुझे पाशुपतास्त्र प्रदान कर दिया है जो मेरे पास विद्यमान है।[6] परन्तु साधारण

१---न सूतेषु न धुर्येषु न च शस्त्रोपनायिषु।
न भेरीशंखवादेषु प्रहर्त्तव्यं कथञ्चन॥ श्लोक ३२ अ० १ भीष्म पर्व॥

२---तथा स्त्रियंच यो हन्ति बालं वृद्धं तथैव च।
विरथं वा प्रकीर्णञ्च भग्नशस्त्रायुधं तथा॥ श्लोक १४ अ० १८ वन पर्व॥

३---न स वृष्णिकुले जातो यो वै त्यजति संङ्गरम्।
यो वा निपतितं हन्ति तवास्मीति च वादिनम्॥ श्लोक १३ अ० १८ वन पर्व॥

४---ब्रह्मास्त्रं पयोक्ष्यामि वधार्थं सर्वरक्षसाम्॥ श्लोक ३० सर्ग ८० युद्ध काण्ड॥

५---तमुवाच ततो रामो लक्ष्मणं शुभलक्षणम्।
नैकस्य हेतो रक्षांसि पृथिव्यां हन्तु मर्हसि॥ श्लोक ३९ सर्ग ८० युद्ध काण्ड॥

६---यत्तदघोरं पशुपतिः प्रादादस्त्रं महन्मम।
कैराते द्वन्द्व युद्धे तु तदिदं मयि वर्तते॥ श्लोक १२ अ० १९४ उद्योगपर्व॥

जनों का बध दिव्य अस्त्रों के द्वारा करना उचित नहीं है। अतएव सामान्य अस्त्र प्रयोग से ही मैं शत्रुओं को जीतना चाहता हूँ।[1]

मानवधर्मशास्त्र में युद्ध के कतिपय नियम दिए गए हैं जिनका संक्षेप रूप में इस प्रकार वर्णन है—भूमि पर खड़े (वाहन हीन), क्लीव, हाथ जोड़े हुए, बाल खोले हुए, बैठे हुए, मैं तुम्हारा हूँ ऐसा कहते हुए, सोते हुए, कवच उतारे हुए, नग्न, हथियार रहित, युद्ध न करते हुए, दर्शक और दूसरे से युद्ध करते हुए का वध नहीं करना चाहिए।[2] टूटे आयुध वाले, अत्यधिक घाव वाले, डरे हुए और रणस्थल से भागे हुए का वध सनातन से धर्म विरुद्ध माना गया है।[3] युद्ध में कूट आयुधों, शरीर में विधकर फिर न निकल सकनेवाले वाणों एवं विष बुझे तथा प्रज्वलित आयुधों का प्रयोग धर्म-विरुद्ध माना गया है।[4]

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी लगभग इन्हीं नियमों को दोहराया गया है—मैं तुम्हारा हूँ ऐसा कहता हुआ, क्लीव, हथियार रहित, दूसरे से युद्ध में संलग्न, युद्ध भूमि से भागे हुए एवं दर्शकों का बध नहीं करना चाहिए।[5]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी रण भूमि में गिरे हुए, रण से विमुख, शरणागत, बिखरे बालों वाले, शस्त्र—त्यागी और युद्ध न करने वाले शत्रुओं को अभयदान देने का समर्थन किया गया है।[6] अर्थशास्त्र में भी शत्रु के राज्य को अग्नि द्वारा नष्ट किए जाने का निषेध किया गया है। इस सम्बन्ध में कौटिल्य का आदेश है कि यदि विजय किए जानेवाले राज्य का सब कुछ क्षय हो गया है तो उसके प्राप्त करने पर भी वह राज्य क्षय के लिए ही होता है।[7] यह अग्नि असंख्यात प्राणी, धान्य, पशु, हिरण्य तथा कुप्य आदि द्रव्यों को क्षय कर देता है।[8]

१—न तु युक्तं रणेहन्तुं दिव्यैरस्त्रैः पृथग्जनम्।
आर्जवेनैव युद्धेन विजेष्यामोवयं परान्॥ श्लोक १५ अ० १९४ उद्योगपर्व॥

२— न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीवं न कृतांजलिम्।
न मुक्तकेशंनासीनं न तवास्मीतिवादिनम्॥श्लोक ९१ अ० ७ मानवधर्मशा०॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम्॥ श्लोक ९२ अ० ७ मानवधर्मशा०॥

३—नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम्।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्तरम्॥ श्लोक ९३ अ० ७ मानवधर्मशा०॥

४—न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानोरणे रिपून्।
न कर्णिभिर्नापिदिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः॥ श्लोक ९० अ० ७ मानवधर्मशा०॥

५— श्लोक ३२६ अ० १ याज्ञवल्क्यस्मृति॥

६—पतित पराङ्मुखाभिपन्न मुक्तकेश शस्त्रभयविरूपेभ्यश्चाभयमयुध्मानेभ्यश्च दद्युः॥
वार्ता ६८ अ० ४ अधि० १३ अर्थशा०॥

७—क्षीण निचयं चावाप्तमपि राज्यं क्षयायैवभवति॥वार्ता २६ अ०४अधि१३अर्थशा०॥

८—अप्रतिसंख्यात प्राणिधान्यपशुहिरण्यकुप्यद्रव्यक्षयकरः॥वार्ता२५अ०४अधि०१३अर्थ०

शुक्रनीति में भी धर्म युद्ध के कतिपय नियमों का उल्लेख किया गया है। यह नियम इस प्रकार बतलाये गए हैं--गजारोही को गजारोही और अश्वारोही को अश्वारोही से युद्ध करना चाहिए। रथी की टक्कर रथी से, और पैदल का युद्ध पैदल से होना चाहिए। एक शस्त्रधारी से शस्त्रधारी और एक अस्त्रधारी से अस्त्रधारी वीर को लड़ना चाहिए।[1] जो वीर अपने वाहन के नष्ट हो जाने पर भूमि में स्थित हो गया हो, जो नपुंसक हो, हाथ जोड़ रहा हो, जिसके बाल खुल गए हों, जो चुपचाप बैठ गया हो, "मैं तो तुम्हारा दास हूँ" जो ऐसा कह रहा हो उसका वध नहीं करना चाहिए।[2] अत्यन्त थके हुए, कवचहीन, नग्न, शस्त्ररहित, युद्ध से उदासीन, दर्शक, अन्य के साथ युद्ध कर रहा हो ऐसे व्यक्ति का भी वध नहीं करना चाहिए।[3] जो व्यक्ति कुछ खा-पी रहा हो अन्य कार्य में आसक्त हो, भयातुर हो, युद्ध से पराङ्मुख हो ऐसे पुरुष को मारना नहीं चाहिए।[4] वृद्ध और बालक का भी वध नहीं करना चाहिए। स्त्री और अकेले राजा पर हाथ छोड़ना उचित नहीं। यथा योग्य शस्त्रास्त्रादि से सुसज्जित करके युद्ध के नियमानुसार किसी का वध करने से धर्म का नाश नहीं होता।[5]

इस प्रकार प्राचीन भारत में युद्ध सम्बन्धी नियम प्रचलित थे जिनका युद्धकाल में पालन किया जाना श्रेयस्कर समझा जाता था और जिनका उल्लंघन सभ्य-समाज में घृणित एवं निन्दनीय समझा जाता था।

१--गजो गजेन यातव्यस्तुरगेण तुरंगमः ।। श्लोक ११७४ अ० ४ शुक्रनीति ।।
रथेन च रथौ योज्यः पत्तिना पत्तिरेब च ।
एकेनैकश्च शस्त्रेणशस्त्रमस्त्रेणवास्त्रकम् ।। श्लोक ११७५ अ० ४ शुक्रनीति ।।

२--न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीवं नकृताञ्जलिम् ।
नमुक्तकेशमासीनं न तवास्मीति वादिनम् ।। श्लोक ११७६ अ० ४ शुक्रनीति ।।

३--न सुसन्नंविसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
न युध्यमानं पश्यंतं युध्यमानं परेण च ।। श्लोक ११७७ अ० ४ शुक्रनीति ।।

४--पिवन्तं न च भुंजानमन्य कार्याकुलं च न ।
न भीतं न परावृत्तं सतांधर्म मनुस्मरन् ।। श्लोक ११७८ अ० ४ शुक्रनीति ।।

५--वृद्धोबालो न हंतव्यो नैव स्त्री केवलो नृपः ।
यथायोग्यं हि संयोज्य निघ्नन्धर्मो न हीयते ।। श्लोक ११७९ अ० ४ शुक्रनीति ।।

पुस्तक-सूची

(क) वैदिक साहित्य

१—ऋग्वेद संहिता —सातवलेकर, औंध कार्यालय, सतारा।

२—ऋग्वेद संहिता —सायणाचार्य भाष्य सहित, द्वितीय संस्करण।

३—ऋग्वेद संहिता —अंगरेजी अनुवाद, आर० टी० एच० ग्रिफिथ, बनारस।

४—ऋग्वेद संहिता —हिन्दी अनुवाद सहित, जयदेव शर्मा, अजमेर।

५—सामवेद संहिता —सातवलेकर, औंध कार्यालय, सतारा।

६—सामवेद संहिता —अंगरेजी अनुवाद, आर० टी० एच० ग्रिफिथ, बनारस।

७—सामवेद संहिता —हिन्दी अनुवाद सहित, जयदेव शर्मा, अजमेर।

८—यजुर्वेद संहिता —सातवलेकर, औंध कार्यालय, सतारा।

९—यजुर्वेद संहिता —महीधर भाष्य सहित, वेबर महोदय द्वारा सम्पादित, लन्दन।

१०—यजुर्वेद संहिता —हिन्दी अनुवाद सहित, वैदिक संस्थान, मथुरा।

११—यजुर्वेद संहिता —हिन्दी अनुवाद सहित, जयदेव शर्मा, अजमेर।

१२—यजुर्वेद संहिता —अंगरेजी अनुवाद, आर० टी० एच० ग्रिफिथ, बनारस।

१३—अथर्ववेद संहिता —सातवलेकर, औंध कार्यालय, सतारा।

१४—अथर्ववेद संहिता — सायणाचार्य भाष्य सहित, बम्बई।

१५—अथर्ववेद संहिता —हिन्दी अनुवाद सहित, जयदेव शर्मा, अजमेर।

१६—एतरेय ब्राह्मण —सायणाचार्य भाष्य सहित, आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना।

१७—तैत्तिरीय आरण्यक—सायणाचार्य भाष्य सहित, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना।

१८—शतपथ ब्राह्मण —सायणाचार्य भाष्य सहित, रायल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता।

१९—वृहदारण्यक उपनिषद् —हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर।

२०—छान्दोग्य उपनिषद् —नित्यानन्द (मिताक्षरी टीका सहित) आनन्दाश्रम, मुद्रणालय, पूना।

(ख) रामायण

२१—श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण—गोविन्दराज भाष्य सहित, टी० आर० कृष्णाचार्य तथा टी० आर व्यासाचार्य।

२२—श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण —गोविन्दराज टीका सहित, श्रीनिवास शास्त्री।

२३—श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण—हिन्दी टीका सहित, साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री।

(ग) महाभारत

२४—महाभारत —पी० पी० एस० शास्त्री।
२५—श्रीमन्महाभारत —नीलकण्ठी टीका सहित, चित्रशाला कार्यालय, पूना।
२६—महाभारत —भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना।
२७—श्रीमन्महाभारत —अंगरेजी अनुवाद, पी० सी० रे० कलकत्ता।
२८—श्रीमन्महाभारत —हिन्दी अनुवाद सहित (आदि पर्व से शान्ति पर्व तक) पं० गंगाप्रसाद शास्त्री, महाभारत प्रकाशन मण्डल, दिल्ली।

(घ) धर्मशास्त्र

२९—मनुस्मृति —मन्वर्थमुक्तावली सहित, कुल्लूक भट्ट।
३०—मनुस्मृति —मेधातिथि भाष्य सहित, अंगरेजी अनुवाद, गंगानाथ झा।
३१—याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र —जेलर द्वारा सम्पादित, बर्लिन।
३२—धर्मशास्त्र संग्रह —पं० जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित कलकत्ता।
३३—गौतम धर्मशास्त्र —आनन्द आश्रम मुद्रणालय, पूना।
३४—बौद्धायन धर्मशास्त्र —ई० हुसल, लिप्जिग।
३५—आपस्तम्ब धर्मशास्त्र —चौखम्भा, बनारस।
३६—बृहस्पति स्मृति —गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, बरोदा।

(ङ) अर्थशास्त्र

३७—कौटिल्य का अर्थशास्त्र —संस्कृत टीका सहित, गणपति शास्त्री
३८—कौटिल्य का अर्थशास्त्र —अंगरेजी अनुवाद, शाम शास्त्री।
३९—कौटिल्य का अर्थशास्त्र —हिन्दी अनुवाद सहित, गंगाप्रसाद शास्त्री।
४०—बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र —एफ० डब्ल्यु० ठामस।

(च) पुराण

४१—श्रीमद्भागवत पुराण —गीता प्रेस, गोरखपुर।
४२—विष्णुपुराण —गीता प्रेस, गोरखपुर।
४३—वायु पुराण —श्री वेंक्टेश्वर छापाखाना, बम्बई।
४४ —मार्कण्डेय पुराण —श्री वेंक्टेश्वर छापाखाना, बम्बई।

(छ) नीतिशास्त्र

४५—शुक्रनीति —पं० जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित, कलकत्ता।
४६—शुक्रनीति —अंगरेजी अनुवाद, विनयकुमार सरकार।

४७—शुक्रनीति —हिन्दू जगत कार्यालय, शामली, मुजफ्फरनगर।
४८—कामन्दकीय नीतिसार —पं० जगन्मंगलकृत, पाण्डुलिपि।
४९—कामन्दकीय नीतिसार —अंगरेजी अनुवाद, मनमथनाथ।

(ज) अन्य ग्रन्थ

५०—हिस्ट्री आफ् एन्टी क्विटी मैक्स डुङ्कर।
५१—हिस्ट्री आफ् संस्कृत लिटरेचर —मैकडान्यल।
५२—हिस्ट्री आफ् एन्शिण्ट संस्कृत लिटरेचर —मैक्समूलर।
५३—हिस्ट्री आफ् इण्डियन लिटरेचर —द्वितीय संस्करण, वेबर।
५४—हिस्ट्री आफ् धर्मशास्त्र —पी० वी० काणे।
५५—कार्पस इंस्क्रिप्शनम् वाल्यूम १ —हुल्श।
५६—कार्पस इंस्क्रिप्शनम् वाल्यूम ३ —फ्लीट।
५७—गुप्त इंस्क्रिप्शन्स —गंगानाथ झा।
५८—दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ् इण्डिया प्रथम भाग —ई० जे० रैपसन।
५९—दि अर्ली हिस्ट्री आफ् इण्डिया चतुर्थ संस्करण —वी० ए० स्मिथ।
६०—सल्यूशन आफ् दि इण्डियन पालिटी —शाम शास्त्री।
६१—हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इंस्टीट्यूशंस —दीक्षितार।
६२—वार इन एन्शिण्ट इण्डिया —दीक्षितार।
६३—हिस्ट्री आफ् हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीज यू० घोषाल।
६४—कारपोरेट लाइफ इन एन्शिण्ट इण्डिया —आर० सी० मजुमदार।
६५—पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया —पी० एन० बनर्जी।
६६—एन्शिण्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रडीशन —एफ० पारजीटर।
६७—एस्पेक्ट आफ् इण्डियन पालिटी —एन० एन० ला।
६८—स्टडीज इन इण्डियन पालिटी —एन० एन० ला।
६९—ट्राइब्स इन एन्शिण्ट इण्डिया —एन० एन० ला।
७०—पोलिटिकल इंस्टीटयुशंस ऐण्ड थियरीज आफ् दि हिन्दूज —बी० के० सकार।
७१—हिन्दू पालिटी के० पी० जायसवाल।
७२—थियरीज आफ् गवर्नमेन्ट इन एन्शिण्ट इण्डिया —वेणीप्रसाद।
७३ दि स्टेट इन एन्शिण्ट इण्डिया —वेणीप्रसाद।
७४—इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि —वी० एस० अग्रवाल।
७५—अशोक —डी० आर० भण्डारकर।
७६—अशोक आर० के० मुकर्जी।
७७—हिन्दू सिविलिजेशन —आर० के० मुकर्जी।

७८—लोकल गवर्नमेन्ट इन एन्शिण्ट इण्डिया —आर० के० मुकर्जी।
७९—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति —ए० एस० अल्तेकर।
८०—ए हिस्ट्री आफ् पोलिटिकल थियरीज —जी० एच० सेवाइन।
८१—पोलिटिकल थियरीज —डब्ल्यू० ए० डनिंग।
८२—रीसेन्ट पोलिटिकल थाट —कोकर।
८३—जनतंत्रवाद (रामायण और महाभारत कालीन) —श्यामलाल पाण्डेय।
८४—शुक्र की राजनीति —श्यामलाल पाण्डेय।
८५—मनु का राजधर्म —श्यामलाल पाण्डेय।

———